विषय–सूची

के जन्मदाता हैं, जिनकी संतवाणी को लिपिबद्ध किया है, और जो अपना नाम प्रकाशन नहीं पसन्द करेंगे, मैं उनका विशेषरूप से आभारी हूं। प्रोफेसर रा० सिंह काश्यप ने पुस्तक का प्रूफ देखने में मेरी मदद की है, लेकिन वह तो मेरे इतने निकट हैं कि उन्हें धन्यवाद क्या दूं ? उन पर मेरा अधिकार है। मैं उन्हें आशीर्वाद देता हूं।

विनीत—
रामेश्वर सिंह
(रिटायर्ड मजिस्ट्रेट तथा कलक्टर)
प्रधान मन्त्री, मानव सेवा संघ,
वृन्दावन, उत्तर प्रदेश।

अनंत चतुर्दशी, भाद्रपद,
संवत् २०१०
कदमकुआं, पटना।

परिचय

आधुनिक युग संघों का युग है। इस समय संघ में शक्ति मानी जाती है। मनुष्य के जीवन से सम्बन्ध रखने वाली समस्याओं को अब सामूहिक विचार विमर्श द्वारा हल किया जाता है। व्यक्ति की महिमा घट गई है। राजसत्ता समाप्त हो गई। गणतंत्र का युग आया है। इसलिये लोक संग्रह के कार्य भी संघों द्वारा ही होने लगे हैं। आधुनिक युग का प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी रूप में संघों द्वारा प्रभावित है।

पर जिन व्यक्तियों के द्वारा संघ बनते हैं उनकी दुर्बलता के कारण किसी भी संघ के ऊँचे से ऊँचे आदर्श पर कलंक का टीका लग जाता है। इसलिये आज कल संघों की बड़ी आलोचना करने का भी एक फैशन हो गया है। किसी संघ में कितनी प्रबल शक्ति है, उसके सदुपयोग से संसार का बड़े से बड़ा कार्य हो सकता है इस पर दृष्टि न रख कर संघों के व्यक्तियों द्वारा की गई दुष्कृतियों को गिनना बुद्धिमानी की निशानी समझी जाने लगी है। कुछ व्यक्ति ऐसे भी हैं जो संघ के नाम मात्र से चिढ़ते और उससे दूर रहने की चेष्टा करते हैं।

संघों की अतिरंजित आलोचना करना और उनसे घृणा करना भी भूल है और संघों में सम्मिलित हो बहुजन-हिताय का नाम लेकर अपना स्वार्थ सिद्ध करना भी मनुष्यता है। पर आज कल यही हो रहा है। किसी एक संघ में सम्मिलित हो लोग व्यक्तिगत लाभ उठाने की ताक में लग जाते हैं और

शेष सभी के प्रति द्वेष-भाव रखते हैं। फलतः संगठित शक्ति परस्पर के संघर्ष में क्षीण होती जारही हैं और विश्व-शांति-स्थापन की दिशा में किए गए हमारे सभी प्रयत्न परस्पर संहार के साधन बनते जा रहे हैं।

इस अवस्था में क्रांति लाने के लिये मनुष्य के भीतर बढ़ती हुई पशुता को मिटाकर मानवता जगाने के लिये एक नवीन विचार धारा का प्रादुर्भाव हुआ है। उसके प्रचार के लिये एक संघ बना है जिसका नाम है मानव-सेवा-संघ। राजनैतिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद देश के भीतर बैर फूट एवं परस्पर घोर अविश्वास की जलती हुई आग को देखकर एक परम कारुणिक सन्त का कोमल चित्त द्रवित हो उठा। वर्ग, जाति, सम्प्रदाय, दल और मतवाद के आधार पर होने वाले संघर्षों से मनुष्य-समाज छिन्न-भिन्न हो रहा था। मनुष्य जाति का दुःख देख कर जब उक्त संत का हृदय अति व्यथित हो उठा तो उन्होंने इस समस्या पर विचार किया और उन्हें जो प्रेरणा मिली उसके फलस्वरूप मानव-सेवा-संघ की स्थापना हुई है।

जैसा कि ऊपर कह आई हूं, संघों की लोकप्रियता घट गई है, इसलिए मानव-सेवा-संघ का भी नाम सुनकर कुछ लोग स्वभाव से ही इससे भयभीत होने लगते हैं और इसकी निरर्थकता सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं। वे सोचते हैं कि अनेकानेक धार्मिक, राजनैतिक और सामाजिक संगठनों से जब मनुष्य जाति का दुःख नहीं मिट सका तो फिर एक नया संघ क्यों? अथवा जब अनेकों संघों द्वारा सेवा-कार्य हो रहे हैं तो फिर एक नये संघ की क्या आवश्यकता पड़ी? वस्तुतः ये प्रश्न विचारणीय हैं। आज जब अनेकों संघ बन चुके हैं तो फिर एक ऐसा संघ भी होना चाहिए जो मानव समाज के विभिन्न क्षेत्रों में सेवा कार्य करने वाली संस्थाओं को जन-कल्याण के मार्ग में

परस्पर सहयोगी बना सके। इसमें कोई संदेह नहीं कि विभिन्न संस्थाओं द्वारा व्यक्ति और समाज के कल्याण के कार्य होते रहे हैं। परन्तु प्रत्येक संगठन अपने क्षेत्र और अपनी नीति को इतना अधिक महत्व देता है कि दूसरों की नीति के प्रति अनुदार व्यवहार करने लगता है। फलतः संस्थायें सीमित क्षेत्र में बंध जाती हैं। भेद-भाव की सृष्टि होती है। परन्तु मानव-सेवा-संघ का सेवा क्षेत्र व्यापक है। यह सब प्रकार के विचार और विश्वास रखने वालों के बीच प्रेम का प्रसार करने वाला संघ है। अपने ऐसे ही विशिष्ट गुणों के कारण आज यह सब के लिए आवश्यक हो गया है।

इस व्यापकता को सुरक्षित रखने में संघ समर्थ हुआ है, क्योंकि संघ व्यक्ति की व्यक्तिगत भिन्नता (Individual Difference) के तत्व को स्वीकार करता है। कोई भी दो व्यक्ति सर्वांश में समान नहीं होते। रुचि, योग्यता, विश्वास, सामर्थ्य एवं परिस्थिति प्रत्येक मनुष्य की एक दूसरे से भिन्न अवश्य होती है। जब दो भाइयों, पति-पत्नी, माँ-बेटे और पिता-पुत्र के विचार, योग्यता और विश्वास एक से नहीं होते तो फिर अनेक व्यक्तियों को एक विचार मार्ग पर कैसे चलाया जा सकता है? सब में एक विश्वास कैसे उपजाया जा सकता है? इस रहस्य को दृष्टि में रख कर मानव-सेवा-संघ प्रत्येक मनुष्य की व्यक्तिगत मान्यता एवं प्रत्येक संघ की विशिष्ट विचार धाराओं का आदर करता है। अनेक प्रकार की भिन्नता के रहते हुये भी प्रीति की एकता को स्वीकार करता है। अतः इस संघ में सब का प्रवेश है। प्रीति की माँग मानव मात्र की अपनी है और स्वाभाविक है। प्रीति के आदान प्रदान में सभी समर्थ हैं। इसलिए अपनी रुचि, योग्यता, विश्वास एवं परि-स्थिति के अनुसार चलते हुए भी हम परस्पर स्नेह की एकता में बंधे

यही मानवता है। इसी एकता में सारे संघर्षों का अन्त है। मनुष्य-सम
के पारस्परिक संघर्षों का अन्त अणुबम आदि वैज्ञानिक आविष्कार नहीं व
सकते। उनका अन्त स्नेह की एकता पर ही निर्भर है। मानव-सेवा-संघ
इसी एकता का पाठ पढ़ाता है। एक ईश्वर वादी अनीश्वरवादी को अ
प्यारे प्रभु का ही स्वरूप मानकर उसे प्यार कर सकता है और एक अनीश
वादी ईश्वरवादी को अपना ही रूप मानकर प्यार कर सकता है। इस गह
से जब मनुष्य का जीवन प्रेम से परिव्याप्त हो जाय तभी विश्व में शांति
स्थापना हो सकती है एवं व्यक्ति और समाज का कल्याण सम्भव है।

इस दिशा में कदम उठाना है पहले स्वयं अपने को क्योंकि संघ की दृ
में दूसरों के अधिकारों का समूह ही हमारा जीवन है। अपनी भूलों
देखना, की हुई भूल न दोहराना, अपने प्रति न्याय एवं दूसरों के प्रति क्ष
अपने अधिकारों का त्याग एवं दूसरों के अधिकारों की रक्षा आदि निय
व्यक्ति के जीवन में क्रांति पैदा करने वाले हैं। संघ की सदस्यता स्वीक
करते ही जीवन में परिवर्तन आता है। इसलिए मानव-सेवा-सघ
व्यक्ति के व्यक्तित्व को महत्वपूर्ण मानता है। सघ विश्वास करता है कि ए
व्यक्ति के मानव हो जाने पर सारा देश सुधर सकता है। ईंट पत्थर जोड क
बड़ा भवन बना लेना और बड़ी जन सख्या का संगठन चला लेना को
विशेष बात नही है, व्यक्ति के भीतर की सोई मानवता को जगाना, व्यक्ति
जीवन को साधन-युक्त बनाकर उसे विकास के मार्ग पर चलाना मानव-सेवा-
संघ का उद्देश्य है। इसलिए यह संघ व्यक्ति के निर्माण में समस्त विश्व क
कल्याण मानता है।

इस संघ का उद्देश्य मानव-मात्र के जीवन की मौलिक समस्या

सुलझाना है। इसलिये इसके सिद्धात ऊंची दार्शनिकता पर आधारित हैं और इसके सिद्धान्त धार्मिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक और सास्कृतिक सीमाओं का अतिक्रमण करते हुए युग युग के अखिल-विश्व जन समूह के जीवन में चरितार्थ होने योग्य हैं। इसमें व्यक्ति की स्वतन्त्रता पूर्ण रूप से सुरक्षित है। इसके उद्देश्य का प्रकट रूप है व्यक्ति का कल्याण और सुन्दर समाज का निर्माण।

मानव मात्र की मौलिक समस्या क्या है? सदा के लिये दुखों का अन्त कैसे हो? मानव जीवन में दुःख क्या है? इच्छाओं की उत्पत्ति और अपूर्ति। जो चाहते हैं सो होता नहीं, जो होता है सो भाता नहीं और जो भाता है वह रहता नहीं। विचित्र अनबूझ पहेली है। पल-पल में इच्छायें उत्पन्न होती हैं। बाह्य परिस्थिति और भोग की शक्ति दोनों के ही सीमित होने के कारण इच्छाओं की पूर्ति अपूर्ति के सुख दुःख के द्वन्द में पड़ा मनुष्य विकल है। भारत वासी, अमेरिकन, अंग्रेज, अफ्रीका के नीग्रो और ग्रीनलैंड के स्कीमो ही नहीं, अखिल विश्व-वासी मनुष्य इस दुःख से दुःखी है। सुख दुःख के द्वन्द में पड़ा मनुष्य लोभी, स्वार्थी, क्रूर, हिंसक, दीन और अभिमानी बनता है। स्वयं दुःख झेलता है और दूसरों को दुःख देता है। मानव-सेवा-संघ इस विश्व व्यापी दुःख की निवृत्ति का मार्ग प्रदर्शित करता है।

इस समस्या के समाधान के लिये यह संघ मानव जीवन के वास्तविक स्वरूप पर विचार करता है। जीवन क्या है? मानव जीवन के प्रति इस संघ का अनूठा आशावादी दृष्टिकोण है। संघ की नीति में मानव का जीवन विश्व और विश्वनाथ के अधिकारों का समूह है। विश्व मानव से सेवा की आशा रखता है और विश्वनाथ मानव का प्रेम चाहते हैं। मानव विश्व की

यही मानवता है। इसी एकता में सारे संघर्षों का अन्त है। मनुष्य-समा
के पारस्परिक संघर्षों का अन्त अणुबम आदि वैज्ञानिक आविष्कार नहीं क
सकते। उनका अन्त स्नेह की एकता पर ही निर्भर है। मानव-सेवा-संघ इ
इसी एकता का पाठ पढ़ाता है। एक ईश्वर वादी अनीश्वरवादी को अ
प्यारे प्रभु का ही स्वरूप मानकर उसे प्यार कर सकता है और एक अनीश्
वादी ईश्वरवादी को अपना ही रूप मानकर प्यार कर सकता है। इस गह
से जब मनुष्य का जीवन प्रेम से परिव्याप्त हो जाय तभी विश्व में शांति
स्थापना हो सकती है एव व्यक्ति और समाज का कल्याण सम्भव है।

इस दिशा में कदम उठाना है पहले स्वयं अपने को क्योंकि सघ की दृ
में दूसरों के अधिकारों का समूह ही हमारा जीवन है। अपनी भूलों
देखना, की हुई भूल न दोहराना, अपने प्रति न्याय एवं दूसरों के प्रति क्ष
अपने अधिकारों का त्याग एवं दूसरों के अधिकारों की रक्षा आदि निय
व्यक्ति के जीवन में क्रांति पैदा करने वाले हैं। सघ की सदस्यता स्वीक
करते ही जीवन में परिवर्तन आता है। इसलिए मानव–सेवा–सघ
व्यक्ति के व्यक्तित्व को महत्वपूर्ण मानता है। सघ विश्वास करता है कि ए
व्यक्ति के मानव हो जाने पर सारा देश सुधर सकता है। ईंट पत्थर जोड़ क
बड़ा भवन बना लेना और बडी जन संख्या का संगठन चला लेना को
विशेष बात नहीं है, व्यक्ति के भीतर की सोई मानवता को जगाना, व्यक्ति
जीवन को साधन-युक्त बनाकर उसे विकास के मार्ग पर चलाना मानव–सेवा
संघ का उद्देश्य है। इसलिए यह संघ व्यक्ति के निर्माण में समस्त विश्व क
कल्याण मानता है।

इस संघ का उद्देश्य मानव-मात्र के जीवन की मौलिक समस्या क

सुलझाना है। इसलिये इसके सिद्धांत ऊँची दार्शनिकता पर आधारित हैं और इसके सिद्धान्त धार्मिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक और सांस्कृतिक सीमाओं का अतिक्रमण करते हुए युग युग के अखिल-विश्व जन समूह के जीवन में चरितार्थ होने योग्य हैं। इसमें व्यक्ति की स्वतंत्रता पूर्ण रूप से सुरक्षित है। इसके उद्देश्य का प्रकट रूप है व्यक्ति का कल्याण और सुन्दर समाज का निर्माण।

मानव मात्र की मौलिक समस्या क्या है? सदा के लिये दुखों का अन्त कैसे हो? मानव जीवन में दुःख क्या है? इच्छाओं की उत्पत्ति और अपूर्ति। जो चाहते हैं सो होता नहीं, जो होता है सो भाता नहीं और जो भाता है वह रहता नहीं। विचित्र अनबूझ पहेली है। पल-पल में इच्छायें उत्पन्न होती हैं। बाह्य परिस्थिति और भोग की शक्ति दोनों के ही सीमित होने के कारण इच्छाओं की पूर्ति अपूर्ति के सुख दुःख के द्वन्द में पड़ा मनुष्य विकल है। भारत वासी, अमेरिकन, अंग्रेज, अफ्रीका के नीग्रो और ग्रीनलैंड के एस्कीमों ही नहीं, अखिल विश्व-वासी मनुष्य इस दुःख से दुःखी है। सुख दुःख के द्वन्द में पड़ा मनुष्य लोभी, स्वार्थी, क्रूर, हिंसक, दीन और अभिमानी बनता है। स्वयं दुःख झेलता है और दूसरों को दुःख देता है! मानव-सेवा-संघ इस विश्व व्यापी दुःख की निवृत्ति का मार्ग प्रदर्शित करता है।

इस समस्या के समाधान के लिये यह संघ मानव जीवन के वास्तविक स्वरूप पर विचार करता है। जीवन क्या है? मानव जीवन के प्रति इस संघ का अनूठा आशावादी दृष्टिकोण है। संघ की नीति में मानव का जीवन विश्व और विश्वनाथ के अधिकारों का समूह है। विश्व मानव से सेवा की आशा रखता है और विश्वनाथ मानव का प्रेम चाहते हैं। मानव विश्व की

सेवा और विश्वनाथ से प्रेम करने में स्वाधीन है। उसे अपने लिये कुछ नहीं चाहिए। उसका हृदय प्रेम से भरपूर हो और उसका शरीर सेवा में रत हो। यह मानव जीवन ऐसा है जिसे दुःख द्वन्द की छाया भी नहीं छू सकती। अपने इस अनुपम स्वरूप को न जानकर ही हम विवश पड़े दुःख झेलते हैं।

वस्तुतः जिसे हम जीवन कहते हैं वह तो उत्पत्ति-विनाश युक्त, परिवर्तन-शील सृष्टि का अंग मात्र है। इस दृष्टि से यह वास्तविक जीवन की अनुभूति का साधन मात्र है। सुख भोग का नहीं। इसलिए इससे सुख लेने का और उसकी सुरक्षा का हम जितना ही अधिक प्रयत्न करते हैं उतना ही अधिक पराधीनता और दुःख अनुभव करते हैं। वस्तुतः जो जीवन है वह तो साधन युक्त साधक को ही प्राप्य है और उसी जीवन की प्राप्ति के लिये उपरोक्त रूप-निरूपण है।

मानव के जीवन का यह रूप-निरूपण संघ के प्रवर्तक संत के जीवन के अनुभूत दार्शनिक तत्वों के आधार पर हुआ है। विशेष जानकारी के लिये संघ द्वारा प्रकाशित "जीवन दर्शन" पुस्तक की सहायता ली जा सकती है। जीवन के प्रति इस दार्शनिक दृष्टिकोण के लिए किसी वाह्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। जीवन के अध्ययन की आवश्यकता है। अतः मनुष्य के जीवन को साधन युक्त बनाने के लिये मानव-सेवा-संघ ने ग्यारह नियम बनाये हैं। ये ग्यारह नियम जीवन के सर्वतोमुखी विकास में सहायक हैं। प्रथम चार, आठवाँ, नवाँ और ग्यारहवाँ आन्तरिक जीवन से, पाँचवाँ, छठवाँ, सातवाँ और दसवाँ वाह्य जीवन से अधिक सम्बन्ध रखने वाले हैं। इस प्रकार ये नियम शारीरिक, मानसिक, आन्तरिक और सामाजिक जीवन के सभी अंगों का सागोपांग विकास करते हुए साधक को वास्तविक जीवन से अभिन्न होने

में समय बनाते हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में आप "मानव" "सेवा" "संघ" उसके ग्यारह नियम और संघ की प्रार्थना की संक्षिप्त परन्तु सार गर्भित व्याख्या पायेंगे।

विनीता—

देवकी

आरोग्य-आश्रम
गाजीपुर (उ० प्र०)
१-१-१९५७

"मानव"

मानव किसी आकृति विशेष का ही नाम नहीं है। जो प्राणी अपनी निर्बलता एवं दोषों को देखने और उन्हें निवृत्त करने में समर्थ है, वही वास्तव में 'मानव' कहा जा सकता है।

'साधनयुक्त जीवन ही मानव जीवन है'

जीवन का निरीक्षण करने पर हम अपने को अन्य प्राणियों की अपेक्षा विवेकी तथा विश्वासी पाते हैं। साथ ही हम अपने में देह जनित स्वभावों की अनेकों आसक्तियों का समूह भी देखते हैं। उन आसक्ति जनित निर्बलताओं से पीड़ित होकर ही हम उन्हें मिटाने के लिये विवेक के प्रकाश में विकल्प रहित विश्वास के आधार पर साधन निर्माण करते हैं। उस साधनयुक्त जीवन को ही मानव-जीवन कहते हैं।

साधन रहित जीवन मानव जीवन नहीं और साधनातीत जीवन भी मानव जीवन नहीं। साधन रहित जीवन तो पशु जीवन है और साधनातीत जीवन दिव्य, चिन्मय, एवं पूर्ण जीवन है। दूसरे शब्दों में मानव जीवन वह जीवन है जिसमें दिव्यता, चिन्मयता, और पूर्णता की लालसा एवं देह जनित स्वभाव अर्थात् इन्द्रिय जन्य आसक्ति रूप निर्बलता—ये दोनों एक साथ विद्यमान हैं।

स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति तथा अस्वाभाविक इच्छाओं की निवृत्ति करना ही मानव जीवन का लक्ष्य है। दिव्यता, चिन्मयता,

पूर्णता की प्राप्ति मानव की स्वाभाविक आवश्यकता है; तथा इन्द्रिय जन्य ज्ञान में सद्भाव होने से जो राग होता है, उससे प्रेरित होकर जिन इच्छाओं की उत्पत्ति होती है, वे ही अस्वाभाविक इच्छायें हैं।

स्वाभाविक आवश्यकता उसी की होती है, जिससे जातीय अथवा स्वरूप की एकता हो, तथा अस्वाभाविक इच्छा उसी की होती है जिससे मानी हुई एकता और स्वरूप से भिन्नता हो। दिव्यता, चिन्मयता, नित्यता एवं पूर्णता हमें स्वभावत: प्रिय हैं, पर इन्द्रिय-जन्य विषयाशक्ति ने उस स्वाभाविक आवश्यकता को ढक सा लिया है और अस्वाभाविक इच्छाओं को उत्पन्न कर दिया है, जिसके फलस्वरूप हम मानवता से विमुख होकर पशुता में प्रवृत्त तथा अग्रसर होते हैं, जो वास्तव में प्रमाद है। अत: जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता है उसकी प्राप्ति और जिससे मानी हुई एकता एवं स्वरूप से भिन्नता है उसकी निवृत्ति करना ही मानव-जीवन का मुख्य उद्देश्य है।

यद्यपि "है" कभी अप्राप्त नहीं है, परन्तु "नहीं" अर्थात् वस्तु आदि जिनसे केवल मानी हुई एकता है, उन वस्तु आदि की आसक्ति से जो वास्तव में प्राप्त है वह अप्राप्त जैसा प्रतीत होता है और जो प्राप्त नहीं है अर्थात् जिसकी प्राप्ति सम्भव ही नहीं है वह प्राप्त जैसा प्रतीत होता है। जब मानव निज विवेक के प्रकाश में अपने को 'यह' से विमुख कर लेता है तब उसमें 'है' का योग, बोध तथा उसमें प्रेम स्वत: हो जाता है। बस यही "है" की प्राप्ति है। इस प्रकार 'है' की प्राप्ति और 'नहीं' की निवृत्ति ही मानव जीवन की पूर्णता है।

"सेवा"

'सेवा' भाव है, कर्म नहीं। इस कारण प्रत्येक परिस्थिति में योग्यता, रुचि, तथा सामर्थ्य के अनुसार सेवा हो सकती है। सच्चे सेवक की दृष्टि में कोई 'और' नहीं है, तथा कोई 'गैर' नहीं है। इसीलिये सेवक का हृदय दुखियों को देख कर करुणित तथा सुखियों को देख कर प्रसन्न, स्वभाव से ही हो जाता है। 'करुणा' सुख भोग की रुचि को और 'प्रसन्नता' खिन्नता को खा लेती है। दुखभोग की रुचि का अन्त होते ही प्राप्त सुख सामग्री दुखियों के समर्पित स्वतः होने लगती है, और खिन्नता का अन्त होते ही कामनाओं का नाश अपने आप हो जाता है।

यह नियम है कि कामनओं की निवृत्ति में ही जिज्ञासा की पूर्ति तथा प्रेम की प्राप्ति निहित है। सेवा—शरीर और विश्व, व्यक्ति और समाज, प्रेमी और प्रेमास्पद में एकता तथा अभिन्नता प्रदान करती है। सेवक सुख देकर दुःख को अपनाता है। यह नियम है कि जो दुख, सुख देकर अपनाया जाता है वह अपने आप आनन्द से अभिन्न हो जाता है। इस दृष्टि से 'सेवक' 'सेवा' होकर साध्य से अभिन्न हो जाता है।

सेवा वही कर सकता है, जो कुछ भी अपना नही माने। जो कुछ भी अपना मानेगा वह सेवा नही कर सकता। जो सेवा नहीं कर सकता वह प्यार भी नही कर सकता। जो सेवा नही कर सकता वह प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग नही कर सकता। यह नियम है कि प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग

के बिना न तो उत्कृष्ट परिस्थिति ही प्राप्त होती है और न परिस्थितियों से अतीत के जीवन मे प्रवेश ही होता है। अतः सेवा में मानव जीवन की सार्थकता निहित है। इस दृष्टि से सेवा साधनयुक्त जीवन का आवश्यक अंग है।

प्राकृतिक नियमानुसार दूसरो के प्रति जो कुछ किया जाता है, वह कई गुना अधिक हो कर स्वयं अपने प्रति हो जाता है। इस दृष्टि से दूसरों की सेवा में अपना हित है। सेवा स्वार्थ-भाव को मिटा देती है; जिसके मिटते ही निष्कामता आ जाती है, उसके आते ही देहाभिमान गल जाता है और फिर बड़ी सुगमता-पूर्वक अपने ही में अपने वास्तविक जीवन का अनुभव हो जाता है। इतना ही नही, सेवा द्वारा भौतिक विकास भी स्वतः होता है। कारण कि सेवा सेवक को विभु बना देती है, अर्थात् सेवक समाज के हृदय में निवास करता है, क्योंकि सेवक में निर्वैरता स्वभाव से ही आ जाती है। निर्वैरता के आते ही निर्भयता, समता, मुदिता आदि दिव्य गुण स्वतः आने लगते हैं।

अब विचार यह करना है कि सेवा का स्वरूप क्या है? सेवा दो प्रकार होती है—एक वाह्य और एक आन्तरिक। वाह्य सेवा का अर्थ है प्राप्त वस्तु योग्यता, सामर्थ्य आदि के द्वारा बिना किसी प्रत्युपकार की भावना के सर्वहितकारी कार्य करना। पर यह तभी सम्भव होगा जब हम प्राप्त वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि को अपना न माने, अपितु उसी का माने जिसकी सेवा का सुअवसर मिला है; क्योंकि सृष्टि एक है, उसमें भेद करना प्रमाद है। अब यदि कोई यह कहे कि जब कोई वस्तु अपनी है ही नही और उसकी है जिसकी सेवा करते हैं, तब उसके नाम पर सेवा कैसे हो सकती है।

कहना होगा कि वाह्य सेवा जिन साधनो से की जा रही है, यद्यपि वे

साधन एक ही सृष्टि के हैं और जिनकी सेवा की जा रही है वे भी सृष्टि के ही अन्तर्गत हैं तो भी जिस प्रकार शरीर के अवयव परस्पर में एक दूसरे की सेवा करते हैं, उसी प्रकार सृष्टि से प्राप्त साधनो के द्वारा ही सृष्टि की सेवा की जा सकती है। हाँ, यह अवश्य है कि जव सेवा द्वारा भेद गल जाता है, तब करना स्वतः होने में वदल जाता है और आन्तरिक सेवा स्वतः होने लगती है। आन्तरिक सेवा के लिये किसी वाह्य प्रवृत्ति की अपेक्षा नही है। उसमें तो सर्व हितकारी भाव विभु होकर सभी को सब कुछ प्रदान करता है अर्थात् भाव के अनुरूप आवश्यक वस्तु आदि स्वतः प्राप्त होने लगती है। सर्व हितकारी भाव सर्वात्मभाव प्रदान करता है अर्थात् सेवक सभी में अपने ही को अनुभव करता है; फिर 'सेवक' 'सेवा' और 'सेव्य' में अभिन्नता हो जाती है। यही सेवा की पराकाष्ठा है।

"संघ"

'संघ' त्याग और प्रेम के आधार पर होता है परन्तु 'संगठन' राग और द्वेष के आधार पर होता है। सुख की आशा और दुख के भय से भयभीत हो कर प्राणी संगठित होते हैं। संगठन दो विभिन्न वर्गों, देशों, दलों, पद्धतियों तथा विचारधाराओं मे सघर्ष उत्पन्न कर विजयी होने की भावना को पुष्ट करता है जिसकी प्रतिक्रिया स्थायी सघर्ष और भेद भाव को जन्म देती हैं। परन्तु 'संघ' अपने अधिकार के त्याग और दूसरों के अधिकार की रक्षा से बनता है। 'संघ' बैरभाव को निर्वैरता में, भेद को अभिन्नता में बदल देता है, जिससे व्यक्ति और समाज में एकता हो जाती है, क्योंकि समाज के अधिकारों का पुंज ही व्यक्ति का अस्तित्व है। अपने अधिकार का त्याग ही वास्तविक त्याग है और दूसरों के अधिकारों की रक्षा में ही प्रेम निहित है। इस दृष्टि से त्याग तथा प्रेम राग-द्वेष का अन्त कर स्थायी शान्ति, निर्वैरता एवं एकता स्थापित करने मे समर्थ है। बस यही 'सघ' का वास्तविक अर्थ है।

संघ का उद्देश्य

वर्तमान मानव-समाज के सामने दो विभिन्न विचार-धाराओं का संघर्ष है। यद्यपि दोनों का लक्ष्य एक है, पर वे परस्पर स्नेह की एकता से दूर होती जा रही हैं, जिसका परिणाम बडा ही भयंकर तथा दुखद सिद्ध हुआ है। एक विचारधारा तो यह है कि हम समाज से विमुख होकर एकान्तिक जीवन द्वारा अपना कल्याण करें; दूसरी यह है कि हम भले ही चाहे जैसे रहें, पर समाज को सुन्दर बनाकर अपने को सुखी बनायें, पर इन दोनों में एकता का संचार करना ही वास्तविक उपयोगी विचार-धारा है। यह तभी सम्भव है जब प्राणी आध्यात्मिकता तथा आस्तिकता से अपने जीवन का निर्माण करे और अपने आत्म-विश्वास, सच्चरित्रता एव विवेक-बल से सेवा द्वारा समाज को सुन्दर बनाने के लिए प्रयत्नशील बना रहे। जिस प्रकार सुन्दर पुष्प से ही वाटिका सुन्दर होती है, उसी प्रकार सुन्दर व्यक्तियों से समाज सुन्दर होता है। इसी आत्यन्तिक पवित्रतम उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही 'मानव सेवा-संघ' का जन्म* हुआ है।

उपर्युक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिये संघ के नियमों का मनन एवं अनुशीलन परम अनिवार्य है।

संघ के नियम

१—आत्म-निरीक्षण अर्थात् प्राप्त विवेक के प्रकाश में अपने दोषों को देखना।

२—की हुई भूल को पुनः न दोहराने का व्रत लेकर सरल विश्वास पूर्वक प्रार्थना करना।

३—विचार का प्रयोग अपने पर और विश्वास का दूसरों पर अर्थात् न्याय अपने पर और प्रेम तथा क्षमा अन्य पर।

४—जितेन्द्रियता, सेवा, भगवच्चिन्तन और सत्य की खोज द्वारा अपना निर्माण।

५—दूसरों के कर्तव्य को अपना अधिकार, दूसरों की उदारता को अपना गुण और दूसरों की निर्बलता को अपना बल न मानना।

६—पारिवारिक तथा जातीय सम्बन्ध न होते हुए भी पारिवारिक भावना के अनुरूप ही पारस्परिक सम्बोधन तथा सद्भाव अर्थात् कर्म की भिन्नता होने पर भी स्नेह की एकता।

७—निकटवर्ती जन-समाज की यथाशक्ति क्रियात्मक रूप से सेवा करना।

८—शारीरिक हित की दृष्टि से आहार विहार में संयम तथा दैनिक कार्यों में स्वावलम्बन।

९—शरीर श्रमी, मन संयमी, बुद्धि विवेकवती, हृदय अनुरागी, तथा अहं को अभिमान-शून्य करके अपने को सुन्दर बनाना।

१०—सिक्के से वस्तु, वस्तु से व्यक्ति, व्यक्ति से विवेक, तथा विवेक से सत्य को अधिक महत्व देना।

११—व्यर्थ-चिन्तन के त्याग तथा वर्तमान के सदुपयोग द्वारा भविष्य को उज्वल बनाना।

पहिला नियम

आत्म-निरीक्षण अर्थात् प्राप्त विवेक के प्रकाश में अपने दोषों को देखना।

आत्म-निरीक्षण का वास्तविक अर्थ है अपने पर अपना नेतृत्व करना। अपना निरीक्षण अपने बनाए हुए दोषों की निवृत्ति का सबसे पहिला उपाय है। अपने निरीक्षण के बिना निर्दोषता की उपलब्धि सम्भव नहीं है, क्योंकि निज विवेक के प्रकाश में देखे हुए दोष सुगमता से मिटाए जा सकते हैं।

अपना निरीक्षण करने पर असत्य का ज्ञान एवं सत्य से एकता और प्राप्त बल तथा योग्यता का सदुपयोग स्वतः होने लगता है। यदि हम असत्य को नहीं देख सके अथवा सत्य से अभिन्न और अपने कर्तव्य से परिचित नहीं हुए तो समझना चाहिए कि हमने अपना निरीक्षण नहीं किया अर्थात् अनन्त की अहैतुकी कृपा से प्राप्त विवेक का आदर नहीं किया, कारण कि विवेक के आदर में ही अपने निरीक्षण की पूर्णता निहित है। अपना यथेष्ट निरीक्षण करने पर किसी अन्य गुरु या ग्रन्थ की आवश्यकता ही नहीं रहती कारण कि जिसके प्रकाश में सब कुछ हो रहा है, उसमें अनन्त ज्ञान तथा अनन्त शक्ति विद्यमान है। अपना निरीक्षण करते करते प्राणी उससे अभिन्न ो जाता है, जो वास्तव में सब का सब कुछ होते हुए भी सबसे अतीत है।

न निरीक्षण हमें बल के सदुपयोग और विवेक के आदर की प्रेरणा देता

है। बल के सदुपयोग से निर्बलताएँ और विवेक के आदर से अविवेक स्वतः मिट जाता है।

प्रत्येक प्राणी अपने से अधिक बलवानों से किसी न किसी प्रकार के बल का अपने प्रति सदुपयोग की आशा करता है, पर वह स्वय अपने प्राप्त बल को निर्बलों के प्रति दुरुपयोग करता है। यह प्राप्त विवेक का अनादर नहीं तो क्या है?

बल का अर्थ है सभी प्रकार के बल अर्थात् तन-बल, धन-बल, विद्या-बल और पद अथवा प्रभुता बल इत्यादि। धन के दुरुपयोग से ही समाज में निर्धनता, शिक्षा अर्थात् ज्ञान विज्ञान और कलाओं के दुरुपयोग से अविवेक की वृद्धि, तन-बल के दुरुपयोग से हिसा और चोरी, प्रभुता के दुरुपयोग से विरोधी शासन का जन्म इसी प्रकार के अनेक दुर्गुणों की वृद्धि होती है।

प्रत्येक प्राणी को अपनी रक्षा स्वभावतः प्रिय है, फिर भी वह स्वयं अहिंसक न रह कर दूसरों की हिंसा में प्रवृत्त होता है, जिससे हृदय वैरभाव से भर जाता है, यही सघर्ष का मूल है। अतः सघर्ष मिटाने के लिए प्रत्येक भाई-बहिन को अपना हृदय वैर-भाव से रहित करना होगा। वैर-भाव से रहित होने के लिए अहिंसक होना अत्यन्त आवश्यक है। अपनी रक्षा की प्रियता का विवेक हमें अहिंसक होने की प्रेरणा देता है, जो अनादि सत्य है, पर आज तो हम वैज्ञानिक आविष्कारों द्वारा हिसात्मक प्रयोगों से सघर्ष मिटाने की बात सोच रहे हैं, जो सर्वथा असम्भव है, कारण कि विवेक के अनादर से ही प्राणी के मन में सघर्ष उत्पन्न हुआ है। अतएव जब तक विवेकपूर्वक मन का सघर्ष न मिटेगा, तब तक समाज में होने वाले संघर्ष कभी नहीं मिट सकते, चाहे वे वैयक्तिक हों या कौटुम्बिक अथवा सामाजिक।

पहिला नियम

आत्म-निरीक्षण अर्थात् प्राप्त विवेक के प्रकाश में अपने दोषों को देखना।

आत्म-निरीक्षण का वास्तविक अर्थ है अपने पर अपना नेतृत्व करना। अपना निरीक्षण अपने बनाए हुए दोषों की निवृत्ति का सबसे पहिला उपाय है। अपने निरीक्षण के बिना निर्दोषता की उपलब्धि सम्भव नहीं है, क्योंकि निज विवेक के प्रकाश में देखे हुए दोष सुगमता से मिटाए जा सकते हैं।

अपना निरीक्षण करने पर असत्य का ज्ञान एवं सत्य से एकता और प्राप्त बल तथा योग्यता का सदुपयोग स्वतः होने लगता है। यदि हम असत्य को नहीं देख सके अथवा सत्य से अभिन्न और अपने कर्तव्य से परिचित नहीं हुए तो समझना चाहिए कि हमने अपना निरीक्षण नहीं किया अर्थात् अनन्त की अहैतुकी कृपा से प्राप्त विवेक का आदर नहीं किया, कारण कि विवेक के आदर में ही अपने निरीक्षण की पूर्णता निहित है। अपना यथेष्ट निरीक्षण करने पर किसी अन्य गुरु या ग्रन्थ की आवश्यकता ही नहीं रहती कारण कि जिसके प्रकाश में सब कुछ हो रहा है, उसमें अनन्त ज्ञान तथा अनन्त शक्ति विद्यमान है। अपना निरीक्षण करते करते प्राणी उससे अभिन्न हो जाता है, जो वास्तव में सब का सब कुछ होते हुए भी सबसे अतीत है। अपना निरीक्षण हमें बल के सदुपयोग और विवेक के आदर की प्रेरणा देता

है। बल के सदुपयोग से निर्बलताएँ और विवेक के आदर से अविवेक स्वतः मिट जाता है।

प्रत्येक प्राणी अपने से अधिक बलवानों से किसी न किसी प्रकार के बल का अपने प्रति सदुपयोग की आशा करता है, पर वह स्वयं अपने प्राप्त बल को निर्बलों के प्रति दुरुपयोग करता है। यह प्राप्त विवेक का अनादर नहीं तो क्या है?

बल का अर्थ है सभी प्रकार के बल अर्थात् तन-बल, धन-बल, विद्या-बल और पद अथवा प्रभुता बल इत्यादि। धन के दुरुपयोग से ही समाज में निर्धनता, शिक्षा अर्थात् ज्ञान विज्ञान और कलाओं के दुरुपयोग से अविवेक की वृद्धि, तन-बल के दुरुपयोग से हिंसा और चोरी, प्रभुता के दुरुपयोग से विरोधी शासन का जन्म इसी प्रकार के अनेक दुर्गुणों की वृद्धि होती है।

प्रत्येक प्राणी को अपनी रक्षा स्वभावतः प्रिय है, फिर भी वह स्वय अहिंसक न रह कर दूसरों की हिंसा में प्रवृत्त होता है, जिससे हृदय वैरभाव से भर जाता है, यही सघर्ष का मूल है। अतः सघर्ष मिटाने के लिए प्रत्येक भाई-बहिन को अपना हृदय वैर-भाव से रहित करना होगा। वैर-भाव से रहित होने के लिए अहिंसक होना अत्यन्त आवश्यक है। अपनी रक्षा की प्रियता का विवेक हमें अहिंसक होने की प्रेरणा देता है, जो अनादि सत्य है, पर आज तो हम वैज्ञानिक आविष्कारों द्वारा हिंसात्मक प्रयोगों से संघर्ष मिटाने की बात सोच रहे हैं, जो सर्वथा असम्भव है, कारण कि विवेक के अनादर से ही प्राणी के मन में सघर्ष उत्पन्न हुआ है। अतएव जब तक [illegible] का सघर्ष न मिटेगा, तब तक समाज में होने वाले सघर्ष [illegible] सकते, चाहे वे वैयक्तिक हों या कौटुम्बिक अथवा सामाजिक

प्रत्येक अपराधी अपने प्रति क्षमा की आशा करता है और दूसरों को दंड देने की व्यवस्था चाहता है। वह अपने प्रति तो दूसरों को अहिंसक, निर्वैर उदार, क्षमाशील, त्यागी, सत्यवादी और विनम्रता आदि दिव्य गुणों से पूर्ण देखना चाहता है, किन्तु स्वय उसी प्रकार का सद्व्यवहार दूसरों के प्रति नहीं कर पाता। अपने प्रति मधुरता-युक्त सम्मान की आशा करता है, पर दूसरों के प्रति अपमान एवम् कटुतापूर्ण असद्व्यवहार करता है, जो वास्तव में भूल है। इसका परिणाम यह होता है कि प्राणी अपने प्रति रागी और दूसरो के प्रति दोषी हो जाता है, जो सभी दुखों का मूल है।

अपने प्रति होने वाले अन्याय को धैर्य के साथ हर्ष पूर्वक सहन करते हुए यदि अन्यायकर्ता को क्षमा कर दिया जाय तो द्वेष प्रेम में बदल जाता है और अपने द्वारा होने वाले अन्याय से स्वयं पीडित होकर उससे (जिसके प्रति अन्याय हो गया है) क्षमा माँग ली जाय एव इस प्रकार उससे क्षमा माँग के द्वारा अपने प्रति न्याय करके स्वय दड स्वीकार कर लिया जाय तो राग त्याग में बदल जाता है।

जब राग और द्वेष, त्याग और प्रेम में बदल जाते हैं तब असंगता और अभिन्नता स्वतः आ जाती है अथवा यों कहो कि मुक्ति और भक्ति स्वतः प्राप्त हो जाती हैं। यही वास्तविक आनन्द है

अपना निरीक्षण करने पर यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जब हम राग से प्रेरित होकर इन्द्रियों की ओर गतिशील होते हैं, तब इन्द्रिय जन्य ज्ञान के आधार पर हमें अनेक प्रकार की विषमताओं का भास होता है और इन्द्रिय जन्य स्वभाव में प्रवृत्त होने से हम क्रिया जन्य सुख की आसक्ति तथा परतन्त्रता आदि में भी आबद्ध हो जाते हैं। इतना ही नहीं, अन्त में हम

शक्ति-हीनता का अनुभव कर स्वाभाविक विश्राम अर्थात् निवृत्ति को अपनाते हैं, जिसके फलस्वरूप शक्ति-हीनता मिटती जाती है और बिना प्रयत्न के ही आवश्यक शक्ति की उपलब्धि होती जाती है।

शक्ति-हीनता, जडता, विषमता इत्यादि दुःखों से दुःखी होकर यदि हम निवृत्ति द्वारा सचित शक्ति का व्यय न करके विषयों से विमुख होकर अन्तर्मुख हो जावें, तो भोग योग मे, जडता चेतना में, विषमता समता मे, पराधीनता स्वाधीनता में और अनेकता एकता मे बदल जाती है। फिर स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति एवं अस्वाभाविक इच्छाओं की निवृत्ति स्वतः ही हो जाती है जो मानव की माग है।

अपनी वर्तमान वस्तुस्थिति का यथेष्ट एव स्पष्ट परिचय प्राप्त करना ही वास्तविक आत्म-निरीक्षण है। उसके बिना हम अपने को निर्दोष नहीं बना सकते। मानव में दोष-दर्शन की दृष्टि स्वतः विद्यमान है, पर प्रमादवश प्राणी उसका उपयोग अपने जीवन पर न करके अन्य पर करने लगता है जिसका परिणाम बड़ा ही भयकर एवं दुःखद सिद्ध होता है। पराये दोष देखने से सबसे बडी हानि यह होती है कि प्राणी अपने दोष देखने से वंचित हो जाता है और मिथ्याभिमान में आबद्ध होकर हृदय में घृणा उत्पन्न कर लेता है। यद्यपि हृदय प्रीति का स्थल है, घृणा का नहीं—पर ऐसा तभी सम्भव है जब मानव पराए दोष न देख कर अपने दोष देखने में सतत् प्रयत्नशील बना रहे। अपने तथा पराये दोष देखने में एक बडा अन्तर यह है कि पराये दोष देखते समय हम दोषों से सम्बन्ध जोड लेते हैं, जिससे कालान्तर में स्वय दोषी बन जाते हैं, पर अपना दोष देखते ही हम अपने को [illegible] असंग कर लेते हैं, जिसस स्वतः निर्दोषता आ जाती है जो स[illegible]

अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि दोष-दर्शन की दृष्टि का उपयोग केवल अपने ही जीवन पर करना है किसी अन्य पर नहीं।

यद्यपि अनादि सत्य तत्व बीज रूप से प्रत्येक मानव में विद्यमान है, पर उसका आदर न करने से प्राणी उस सत्य से विमुख हो गया है एवं परिवर्तनशील वस्तु, अवस्था और परिस्थितियों में आबद्ध होकर उसने अपने को दीन हीन अभिमानी और परतन्त्र बना लिया है। इस दुःखद बंधन से छुटकारा पाने के लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि प्राणी प्राप्त विवेक के प्रकाश में (जो चिर सत्य है) अपनी दशा का निरीक्षण करे और वस्तु, अवस्था आदि से असंग होकर दुराचार को सदाचार में परिवर्तित करके अपने को निर्विकार बनाए।

यह प्रत्येक मानव का अनुभव है कि दृश्य का सम्बन्ध सुख-दुःख में आबद्ध करता है और दृश्य से असंग होने पर किसी प्रकार का दुःख शेष नहीं रहता। प्रिय से प्रिय वस्तु और व्यक्ति से सम्बन्ध स्वीकार करके भी प्राणी उससे अपने को अलग करना चाहता है कारण कि सबसे अलग हुए बिना वह चिर-शाति तथा शक्ति नहीं पाता जो उसे स्वभाव से ही प्रिय है। यह निर्विवाद सिद्ध है कि प्राणी प्रिय से प्रिय प्रवृति से थक कर गहरी नींद के लिए प्रत्येक व्यक्ति और वस्तु आदि से अलग होना चाहता है। यद्यपि सुषुप्ति में किसी भी प्रकार का वैषम्य तथा दुःख शेष नहीं रहता, तथापि उससे भी प्राणी स्वयं उपराम हो जाता है और किसी ऐसे जीवन की खोज करता है जिसमें सुषुप्ति के समान साम्य तथा दुःख रहितता तो हो, किन्तु संज्ञाशून्यता न हो। उस स्थिति के उपलब्ध हो जाने पर जब वह उससे भी उत्थान देखता है, तब उत्थान रहित, अलौकिक, अनन्त, नित्य, चिन्मय जीवन व्याकुल होता है अर्थात निर्विकल्प-बोध की लालसा करता है, जो

सभी अवस्थाओं से अतीत और स्वतः सिद्ध है। इस स्वतः सिद्ध अनन्त जीवन की रुचि मानव मात्र में स्वभाव से ही विद्यमान है। इसके लिए सभी अवस्थाओं से विमुख होना अनिवार्य है। अवस्थाओं से विमुख होते ही इस अवस्थातीत जीवन का अनुभव हो जाता है।

अपना निरीक्षण ही वास्तविक सत्संग, स्वाध्याय और अध्ययन है कारण कि अपने निरीक्षण के बिना प्राणी उस सत्य तत्व एवं ज्ञान की उपलब्धि ही नहीं कर सकता जो उसमें सदैव विद्यमान है। अतः अपने निरीक्षण द्वारा ही हम वास्तविक सत्य-तत्व एवं ज्ञान को उपलब्ध कर सकते हैं।

अपना निरीक्षण करते ही जिस विवेक से असत्य का दर्शन होता है, वही विवेक उसे सत्य से अभिन्न भी कर सकता है और उसी के द्वारा सत्य से अभिन्न असत्य से निवृत्त होने का उपाय प्राप्त होता है। आत्म-निरीक्षण के बिना कोई भी सद्ग्रन्थ तथा सद्गुरु से मिला प्रकाश अपने काम नहीं आता। वह केवल मस्तिष्क का संग्रह बन जाता है जो कि नक्शे की नदी के तुल्य है। नक्शा हमें वास्तविकता तक पहुँचाने का साधन अवश्य है, परन्तु उसे देखकर सन्तोष करने से न तो एक बूंद जल मिलेगा न प्यास बुझेगी।

अपने निरीक्षण के साथ-साथ ही हमें सद्ग्रन्थ तथा सत्पुरुषों के प्रकाश का उपयोग करना चाहिए। आत्म-निरीक्षण द्वारा जब हम अपनी सभी प्रियताओं को जान लेते हैं, तब फिर हमारे द्वारा कोई ऐसी चेष्टा नहीं होती जिसमें दूसरों की प्रियता तथा हित निहित न हो।

जब हम प्राप्त विवेक के प्रकाश में अपनी वर्तमान वस्तु-स्थिति का विश्लेषण करते हैं, तब हमें अपने में भोगों की इच्छा अर्थात् इन्द्रिय जन्य

स्वभाव में प्रवृत्ति तथा वास्तविक स्वाधीनता अर्थात् वस्तु अवस्था एवं परिस्थितियो से अतीत के जीवन की अभिलाषा;—ये दो बातें दिखाई देती हैं। जिन्हें भोग इच्छा कहते हैं उनकी उत्पत्ति एक मात्र 'यह' को 'मैं' स्वीकार करने पर अथवा 'यह' को अपना मानने पर होती है। यद्यपि 'यह' को 'मैं' मान लेना निज ज्ञान के विपरीत है फिर भी हम उस ज्ञान का अनादर करके 'यह' (शरीर) से तद्रूप होकर अपने को भोग-वासनाओं मे आबद्ध कर लेते हैं जो सभी दुःखों का मूल है। 'यह' को 'मैं' मान लेने पर तो 'यह' की सत्यता दृढ़ होती है और 'यह' को 'अपना' मान लेने पर 'यह' के प्रति प्रियता उत्पन्न होती है वही धीरे धीरे कालान्तर मे आशक्ति का रूप धारण कर लेती है। 'यह' की सत्यता और प्रियता में आबद्ध प्राणी अपने वास्तविक नित्य जीवन से विमुख हो जाता है। 'यह' के न रहने पर भी जो रहता है अथवा जब 'यह' नहीं था तब भी जो था एवं जिसके प्रकाश से 'यह' प्रकाशित है वही वास्तव में अपना नित्य अनन्त जीवन है। उस नित्य जीवन के अनुभव बिना किसी को भी चिरशाति एवं स्थायी प्रसन्नता नहीं मिल सकती—यह निर्विवाद सिद्ध है।

यदि प्राणी निज विवेक के प्रकाश में न तो 'यह' को 'मैं' स्वीकार करे और न 'यह' को 'अपना' माने तो स्वाभाविक ही निर्वासना आ जाती है, क्योंकि फिर सीमित अहभाव शेष नही रहता, साथ ही उससे अभिन्नता हो जाती है, जो भक्तों का भगवान, तत्ववेत्ताओं का निज स्वरूप, योगियों का योग तथा सभी का सब कुछ है।

'यह' और 'मैं' का विभाजन 'है' से अभिन्न करने का उपाय है। जिस प्रकार हल्दी और चूना मिलने से लालिमा उत्पन्न होती है और दोनों के विभाजन से लालिमा मिट जाती है उसी प्रकार 'यह' और 'मैं' के विभाजन

से 'अहं' और 'मम' रूपी लालिमा सदा के लिए मिट जाती है और केवल अनन्त नित्य जीवन ही शेष रहता है जो वास्तव में मानव की माँग है।

भौतिकवादी 'मैं' और 'वह' को 'यह' में विलीन कर जडता में आबद्ध हो जाते हैं। आस्तिकवादी 'यह' और 'मैं' को 'वह' में विलीन कर दिव्य चिन्मय हो जाते हैं और अध्यात्मवादी 'यह' और 'वह' को 'मैं' में विलीन कर अभिन्न हो जाते हैं।

भौतिकवाद वासनाओं में आवद्ध करता है। आस्तिकवाद मे केवल प्रेम ही प्रेम शेष रखता है। अध्यात्मवाद अपने मे ही सब कुछ पा लेता है।

भौतिकवाद देहाभिमान को पुष्ट करता है और कर्म-जाल में आवद्ध कर प्राणी को सुखी दुखी बनाता है। आस्तिकवाद प्राणी को सुख दुःख से अतीत अखड अनन्त रस प्रदान करता है और अध्यात्मवाद प्राणी को अखड एक रस प्रदान करता है।

भौतिकवाद की पराकष्ठा आस्तिकवाद अथवा अध्यात्मवाद को जन्म देती है।

भौतिकवाद मे प्राणी तभी तक आबद्ध है, जब तक वस्तुओं का वास्तविक स्वरूप जान नहीं पाता अथवा यों कहो कि 'वस्तुओं' से अतीत के जीवन पर विश्वास नहीं करता अथवा यों कहो कि 'विश्व' की दी हुई वस्तुएँ 'विश्व' को वापिस नहीं करता अर्थात् 'समाज' का ऋणी रहता है।

सारी सृष्टि 'यह' के अर्थ में आ जाती है। शरीर संसाररूपी सागर का एक बिन्दु मात्र है। अतः शरीररूपी बिन्दु को संसाररूपी सागर की सेवा में लगा देना ही शरीर का सर्वोत्कृष्ट सदुपयोग है, कारण कि व्यक्तिगत जीवन समाज के अधिकारों का समूह मात्र है और कुछ नहीं। जब प्राणी

समाज के अधिकारों को सुरक्षित रखते हुए अपने अधिकार को भूल जाता है, तब आस्तिकवाद और अध्यात्मवाद में उसका स्वतः प्रवेश हो जाता है। फिर बड़ी सुगमतापूर्वक 'यह' और 'मैं' का विभाजन हो जाता है। प्राणी अधिकार लोलुपता के कारण ही 'यह' में आबद्ध हो गया है। यदि प्राप्त विवेक के प्रकाश में प्राणी उन सभी इच्छाओं का अन्त कर दे, जिनमें समाज का हित और प्रसन्नता निहित न हो तो बड़ी सुगमतापूर्वक उसका मन निर्विकल्प हो जाता है। मन के निर्विकल्प होते ही बुद्धि सम हो जाती है। बुद्धि के सम होते ही आवश्यक शक्ति का विकास होता है। फिर प्राणी अपनी स्वाभाविक लालसा को पूरा कर कृत-कृत्य हो जाता है। उसका जीवन निर्वासना, निर्वैरता, निर्भयता, समता, मुदिता आदि गुणों से परिपूर्ण हो जाता है अथवा यों कहो कि वह अपना निर्माण कर लेता है। इस प्रकार व्यक्ति के निर्माण से स्वतः ही सुन्दर समाज का निर्माण होने लगता है। अतः अपने निरीक्षण द्वारा अपने को निर्दोष बनाना परम आवश्यक है।

अपना निरीक्षण करने पर हमें यह भली-भाँति विदित हो जाता है कि प्राप्त शक्ति का सद्व्यय प्राणियों को स्वभाव से ही प्रिय है, कारण कि जब कोई हमारे साथ व्यवहार करता है और उसमें किसी प्रकार का दोष होता है तब हम उसके उस व्यवहार को उचित नहीं मानते तथापि वही व्यवहार प्रमादवश हम स्वयं दूसरों के प्रति कर बैठते हैं।

मिथ्या, कटु और आवश्यकता से अधिक या कम बोलना किसी को प्रिय नहीं होता। हम यही आशा करते हैं कि हम से जो कोई बोले प्रिय, सत्य हितकर और आवश्यकतानुसार बोले। बोलने के सम्बन्ध में इस प्रकार का ज्ञान हमें किसी ने सिखाया नहीं। यह हममें स्वयं विद्यमान है। बोलने

की शक्ति का सद्व्यय करने पर वाणी में सत्यता आ जाती है। उसके शब्दों का प्रभाव स्वतः होने लगता है। यहाँ तक कि उसके बोले हुए वाक्यों पर प्रकृति भी कार्य करने लगती है। ऐसा यथार्थ बोलने वालों का अनुभव है।

उसी प्रकार हमें प्रत्येक इन्द्रिय के व्यवहार पर निज ज्ञान के प्रकाश में यथेष्ट दृष्टिपूर्वक निरीक्षण रखना चाहिए, जिससे इन्द्रियों की शक्ति का दुर्व्यय न हो। पर, यह तभी सम्भव होगा जब मन में केवल वे ही संकल्प उत्पन्न हों जो शुद्ध हों और जिनका सम्बन्ध वर्तमान परिस्थिति से हो अर्थात् अनावश्यक और अशुद्ध संकल्पों के त्याग करने पर ही इन्द्रियों का व्यवहार शुद्ध हो सकेगा। उसका परिणाम यह होगा कि आवश्यक संकल्पों की पूर्ति और अनावश्यक संकल्पों की निवृत्ति स्वतः हो जायगी अर्थात् मन में निर्विकल्पता आ जायगी। मन के निर्विकल्प होते ही मन के द्वारा जो शक्ति इन्द्रियों की ओर प्रवाहित होती थी वह बुद्धि की ओर आरोहित होकर बुद्धि में विलीन हो जायगी। फिर बुद्धि सम होकर उस अनन्त ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित हो जायगी। फिर वह मन इन्द्रिय आदि को शुद्ध प्रकाश देकर व्यवहार में सुन्दरता प्रदान कर सकेगी।

हमारी चेष्टाओं में दोष तभी आ जाते हैं जब बुद्धि के द्वारा मिले हुए वास्तविक प्रकाश का मन और इन्द्रियाँ अनादर करने लगती हैं एवं हम इन्द्रियों के उस कृत्य का समर्थन करते रहते हैं जो बुद्धि के प्रकाश से रहित है। बस, यही भूल अपना निरीक्षण न करने से होती है। हमारी बुद्धि दूसरों का निरीक्षण करने में तो बड़ी ही कुशलता का परिचय देती है परन्तु उस कुशलता का उपयोग हमें अपने मन, इन्द्रिय आदि के निरीक्षण में करना चाहिए।

हम जिनके साथ रहते हैं उनकी बात पर विश्वास न करके अपना विश्वास खो बैठते हैं और दुःखी होकर कहने लगते हैं कि हमारी बात का कोई विश्वास ही नहीं करता। इस प्रकार परस्पर में अविश्वास होने से बड़ी भयंकर उलझनें उत्पन्न हो जाती हैं। जीवन कलह का केन्द्र बन जाता है। अपना असत्य सत्य और दूसरों का सत्य असत्य प्रतीत होने लगता है। इससे जीवन में खिन्नता, नीरसता, एवं उत्साहहीनता आदि अनेक विकार भर जाते हैं। इस भयंकर परिस्थिति का परिवर्तन करने के लिये हमें अपनी प्रत्येक चेष्टा द्वारा सत्यता, मधुरता, प्रियता, एवं हितचिन्तकता का परिचय देना चाहिए और अपने साथियों के असत् तथा कटुतापूर्ण व्यवहार की आलोचना न करते हुए उनकी इच्छानुसार जैसा वे कहें सुन लेना चाहिए, जिससे उन्हें विश्वास हो जाय कि हमारी बात सहर्ष सुन ली जाती है। कुछ ही दिन में हमारे साथी अपने स्वभाव को स्वतः बदलने लगेंगे। यद्यपि हमें किसी के असत्य का अनुसरण नहीं करना है तथापि अपने सत्य के समान ही उसका आदर अवश्य करना है, क्योंकि किसी के असत्य को असत्य कहने का हमें अधिकार ही नहीं है। यदि कोई अपने असत्य को सत्य प्रकाशित करता है तो हमें हर्षपूर्वक सुन लेना चाहिए। उसका अनादरपूर्वक कटुता-पूर्ण उत्तर नहीं देना चाहिए। इसका परिणाम यह होगा कि उसका असत्य उसे स्वयं दीखने लगेगा। फिर वह बेचारा स्वतः ही विवश होकर असत्य का त्याग करने लगेगा, क्योंकि अनादर के भय से ही प्राणी असत्य को सत्य सिद्ध करने का प्रयत्न करता है। हमारे आलोचक जब स्वभाव से हमारे समक्ष हमारे सत्य का अनादर और अपने असत्य का प्रतिपादन करने लगें उस समय यदि हम प्रतिवाद करने लगें तो इससे परस्पर संघर्ष उत्पन्न हो जाता

है। अतः यदि हमें ठीक-ठीक सत्य का दर्शन हो गया है तो हमें चाहिए कि हम साथी के असत्य को असत्य न कह कर उसे सत्य को देखने की दृष्टि प्रदान करें जिससे वह स्वयं अपने असत्य को देख कर अपने को सत्यार्थी बनाने के लिए तत्पर हो जाय।

अपना निरीक्षण करने में प्राणी जिन स्वाभाविक रुचियों को बनाए रखता है उन्हीं के अनुसार उसे सत्य का दर्शन मिलता है। यद्यपि सत्य सभी रुचि-रंजित स्वभावों से अतीत है, क्योंकि प्रत्येक रुचि किसी न किसी परिच्छिन्नता के अभिमान पर ही जीवित है, तथापि असत्य को प्रकाशित करने में भी सत्य ही समर्थ है।

आत्म निरीक्षण करने से हमें यह भी प्रकाश मिलता है कि न्याय और प्रेम से ही परस्पर में एकता, प्रियता एव मधुरता सुरक्षित रह सकती है। पर न्याय अपने प्रति और प्रेम अन्य के प्रति करना होगा। अपने पर न्याय करने से निर्दोषता आ जाती है और दूसरों के प्रति प्रेम करने से स्नेह की एकता एवं स्वरूप की अभिन्नता का अनुभव होने लगता है। न्याय का वास्तविक अर्थ है—बल का सदुपयोग तथा प्रेम का वास्तविक अर्थ है अपने अधिकार को भूल कर दूसरे के अधिकारों की रक्षा करते हुए बुराई का उत्तर भलाई से देने में प्रसन्नता का अनुभव करना। कारण कि प्रेम किसी प्रकार का भेद तथा दूरी नहीं रहने देता। वास्तविक एकता का अनुभव हो जाने पर प्राणी बड़ी ही सुगमता से बुराई का उत्तर भलाई से दे सकता है। जिस प्रकार दाँतों से यदि जीभ कट जाती है तो वह कभी उन्हें तोड़ने की बात नहीं सोचती। इतना ही नहीं यदि दाँतों में कुछ फँस गया हो तो उसे निकालने के लिये ही प्रयत्न करती है।

आत्म-निरीक्षण से हमें यह भी प्रकाश मिलता है कि सुख का वितरण करने के लिये और दुःख को अपनाने के लिये सभी के साथ एकता स्थापित करनी चाहिए क्योंकि हम अपना दुःख मिटाने के लिये अपने से अधिक सुखियों की ओर आशा लगाए रहते हैं। प्राप्त सुख द्वारा अपने से अधिक दुखियों की आशा पूरी करने में हिचकते रहना ही प्रमाद है। इस प्रमाद को मिटाने के लिये विवेक का आदर करना ही महामंत्र है। अपने अनुभूत ज्ञान का नाम ही विवेक है। सीखे हुये ज्ञान का नाम विवेक नहीं है। वह तो केवल मस्तिष्क का संग्रह है।

अपना निरीक्षण करने पर यह भी अनुभव होता है कि प्रवृति के अन्त में निवृत्ति और निवृत्ति के अन्त मे प्रवृत्ति स्वत: होने लगती है, पर राग-युक्त प्रवृत्ति प्रमादवश वासनाओं के जाल में आबद्ध करती है, जिससे प्राणी अनेक ऊँच-नीच योनियों को प्राप्त होकर अनेक प्रकार के सुख दुःख भोगता रहता है अर्थात् आनन्द से विमुख हो जाता है, यद्यपि आनन्द से जातीय तथा स्वरूप की एकता है और सुख-दुःख से केवल मानी हुई एकता है। कामना की उत्पत्ति में दुःख और पूर्ति में सुख प्रतीत होता है। कामनाओं की उत्पत्ति का मूल कारण शरीर से एकता स्वीकार करना है जो वास्तव में भूल है, क्योंकि जिसे अपने से भिन्न जानते हैं उसे अपना स्वरूप मान लेना अर्थात् उससे आत्मीयता स्वीकार करना प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

जिस विवेक से प्रमाद को प्रमाद जानते हैं, उसी विवेक से प्रमाद का अन्त हो सकता है, अर्थात् विवेक द्वारा स्थूल, सूक्ष्म, कारण तीनों शरीरों से असंग होते ही निर्वासना आ जाती है, वासनाओं का अन्त होने पर राग

त्याग में बदल जाता है। तब प्रेमास्पद के नाते स्वार्थ-रहित सर्व हितकारी प्रवृत्ति केवल प्रेमास्पद की प्रसन्नतार्थ ही होने लगती है। प्रेमी को सभी में अपने प्रियतम का दर्शन होने लगता है, अर्थात् यह अनुभव होता है कि जो कुछ है उसमें अपना प्रियतम ही है और कुछ नहीं। वासना रहित निवृत्ति आ जाने पर तो ऐसा बोध स्वतः होता है कि प्रेमास्पद से भिन्न और कभी कुछ हुआ ही नहीं, उस अवस्था में शरीर-द्वारा होने वाली प्रवृत्तियाँ स्वतः स्वार्थ रहित सर्व-हितकारी सद्भावना से प्रेरित होने लगती है। स्वार्थ-रहित सर्वहित-कारी प्रवृत्ति वास्तव में निवृत्ति के ही समान है, क्योंकि वह समाज के अधिकारों को सुरक्षित रखती है और उसके बदले में कुछ भी लेने की रुचि शेष नही रहने देती। स्वार्थ-रहित होते ही किसी प्रकार का उपभोग शेष नहीं रहता और उपभोग का अन्त होते ही प्राणी अपने में ही अपने परम प्रेमास्पद का अनुभव कर कृत-कृत्य हो जाता है। अतः यह निर्विवाद सत्य है कि वासना-रहित निवृत्ति और सर्वहितकारी प्रवृत्ति दोनों ही आदरणीय तथा अनुसरणीय हैं।

सर्व हितकारी प्रवृत्ति और वासना-रहित निवृत्ति ही मानव जीवन की दो मुख्य साधनाये हैं। जीवन इन दोनों भागों मे ही विभाजित होना चाहिए। ये दोनों साधनाये जिस एक के प्रकाश से प्रकाशित होती हैं, वही एक सभी का सब कुछ है और उससे सभी की अभिन्नता हो सकती है।

वासनायुक्त निवृत्ति और स्वार्थयुक्त प्रवृत्ति तो सर्वथा निन्दनीय है; क्योंकि वासनायुक्त निवृत्ति प्राणी को मिथ्याचारी और स्वार्थयुक्त प्रवृत्ति उसे विषया-सक्त बना देती है। वासना-रहित निवृत्ति भेद से अभेद की ओर और स्वार्थ रहित प्रवृत्ति भिन्नता से अभिन्नता की ओर प्रेरित करती है। अभिन्नता स्वार्थ

को खा कर साधक को साध्य से एक कर देती है। इसी प्रकार वासना रहित निवृत्ति देहाभिमान को खा कर साधक को अपने लक्ष्य में प्रतिष्ठित कर अभेद कर देती है। फिर उसके जीवन में किसी प्रकार का अभाव शेष नहीं रहता अर्थात् 'यह' (संसार) 'वह' (परमात्मा) और 'मैं' तीनों की वास्तविक एकता हो जाती है।

अपना निरीक्षण करने पर यह भी ज्ञात होता है कि प्राप्त का अनादर और अप्राप्त का चिन्तन करते रहने से प्राप्त शक्ति का दुरुपयोग होता है सदुपयोग नहीं होता। आदरपूर्वक वर्त्तमान का सदुपयोग न करने से आगे-पीछे का व्यर्थ-चिन्तन होने लगता है, जिससे सार्थक-चिन्तन उत्पन्न ही नहीं हो पाता। सार्थक-चिन्तन के बिना उसकी ओर प्रगति ही नहीं हो सकती जो एक मात्र स्मरण, चिन्तन एवं ध्यान से ही प्राप्त होता है। प्राणी उस समय तक किसी न किसी चिन्तन में लगा ही रहता है, जब तक उस अनन्त जीवन को प्राप्त नही कर लेता जो सभी अवस्थाओं, वस्तुओं एव परिस्थितियों से अतीत है। उसका अनुभव करने के लिए तो हमे सब प्रकार के चिन्तन से रहित होना ही होगा। जिस प्रकार स्वार्थ-भाव मिटाने के लिए सेवा-भाव अनिवार्य है, उसी प्रकार व्यर्थ-चिन्तन मिटाने के लिए सार्थक-चिन्तन भी परमावश्यक है। जब तक अप्राप्त परिस्थिति से निराश होकर प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग न किया जाय, तब तक व्यर्थ चिन्तन का होना स्वाभाविक ही है। प्राप्त परिस्थिति ही सर्वोत्कृष्ट साधन सामग्री है—ऐसा मानने या जानने से ही प्राणी अप्राप्तपरिस्थिति से निराश हो सकता है, क्योंकि प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय तथा साधन-सामग्री है और कुछ नहीं। साधन में साध्य तथा जीवन बुद्धि—भूल है। साधक साधन द्वारा ही साध्य से अभिन्न होता है। अतः प्रत्येक साधक को सभी

नहीं, पर वास्तविक साम्य किसी परिस्थिति विशेष में नहीं प्रत्युत् सभी परिस्थितियों से अतीत में अथवा अपने अपने स्थान पर ठीक बने रहने में ही है। सभी परिस्थितियों से अतीत जो साम्य है, वह सब प्रकार से नित्य तथा अनन्त है और अपने अपने स्थान पर ठीक बने रहने में जो साम्य है वह एक दूसरे के पारस्परिक अधिकारों को सुरक्षित रखते हुए प्रीति की एकता रखता है। यह तभी सम्भव है जब व्यक्तिगत जीवन सामाजिक अधिकारों का समूह बन जाय और समाज ही व्यक्तिगत जीवन हो जाय। पर ऐसा तभी हो सकेगा जब मानव कर्त्तव्य को ही अपना अधिकार माने तथा अधिकार लालसा से रहित होकर अचिन्त हो जाय।

यह भी सभी का अनुभव है कि प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में शक्तिहीनता जडता, एव पराधीनता आदि निर्बलतायें आ जाती हैं और निवृत्ति आ जाने पर स्वाभाविक ही स्वतः शक्ति का सचय हो जाता है, अर्थात् प्रवृत्ति से उत्पन्न हुई निर्बलतायें मिट जाती हैं। इससे यह निर्विवाद सिद्ध है कि प्रत्येक प्रवृत्ति शक्ति का व्यय और प्रत्येक निवृत्ति शक्ति का सचय कराने में समर्थ है। यदि प्राणी प्रवृत्ति के दोषों से दुखी होने पर उसकी वासना से रहित हो स्वतः प्राप्त निवृत्ति को अपना कर अचिन्त हो जाय तो भोग योग में, राग वैराग्य में पराधीनता स्वाधीनता मे तथा जडता चिन्मयता मे परिणत हो जाती है। फिर जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता है उसमे अभिन्नता और जिससे केवल मानी हुई एकता है उससे भिन्नता हो जाती है, अर्थात् किसी प्रकार की विषमता एव खिन्नता शेष नहीं रहती। यह भली-भाँति अनुभव हो जाता है कि प्रत्येक प्रवृत्ति केवल छिपे हुये राग की वास्तविकता का परिचय कराती है और निवृत्ति द्वारा प्रवृत्तियो का अन्त कर, प्रवृत्ति और निवृत्ति से अतीत

अनन्त नित्य जीवन का पाठ पढ़ाती है। बस, यही आध्यात्मिक तथा आस्तिक जीवन है। अतएव अपने निरीक्षण द्वारा प्राणी बड़ी ही सुगमता-पूर्वक आध्यात्मिक उत्थान तथा आस्तिक जीवन का अनुभव कर कृत-कृत्य हो सकता है।

दूसरा नियम

की हुई भूल को पुनः न दुहराने का व्रत सरल विश्वासपूर्वक प्रार्थना करना।

जब अपने निरीक्षण से हम अपने बनाए हुए दोषों को देख लेते हैं, तब उनको मिटाने के लिए प्रायश्चित्त तथा व्रत एव तप और प्रार्थना करना अनिवार्य हो जाता है, कारण कि प्रायश्चित्त के बिना भूल को न दोहराने का सकल्प दृढ़ नही रह सकता तथा व्रत के बिना भूल का पुनः उत्पन्न न होना और निर्दोषता की प्राप्ति सम्भव नही है एव प्रार्थना के बिना व्रत को पूरा करने की शक्ति और निराभिमानता सम्भव नहीं है।

प्रार्थना रहित तप में सीमित अहभाव की दृढ़ता होती है जो साधक को गुणो के अभिमान मे आबद्ध कर देती है। गुणों का अभिमान वास्तव मे दोषो का मूल है। अतः व्रत के पालन करने में जो कठिनाइयाँ आयें उनको तप जान कर सहर्ष सहन कर लिया जाय तथा आवश्यक-शक्ति और निराभिमानता के लिए सरल विश्वासपूर्वक प्रार्थना की जाय तो दोषों की निवृत्ति और निर्दोषता की प्राप्ति स्वतः हो जायगी, यह बात निर्विवाद सिद्ध है। निराभिमानता का वास्तविक अर्थ यह है कि गुणों का संग न हो और दोषों की उत्पत्ति न हो।

भूल को भूल जान लेने पर जो वेदना उत्पन्न होती है, वही साधक के मन में प्रायश्चित्त करने की भावना जाग्रत करती है। जो भूल हो चुकी है न दोहराया जाय, यही वास्तव में सर्वोत्कृष्ट प्रायश्चित्त है, किन्तु उस

प्रायश्चित्त को सजीव और सफल बनाने के लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि भूल द्वारा जिस सुख का उपभोग किया है उसे दुःख में बदल कर सुख की आसक्ति को मिटा दें और किसी न किसी ऐसे तप को अपना लिया जाय, जिससे पुनः भूल न करने की दृढ़ता आ जाय, एवं असावधानी मिट जाय, हृदय की दुर्बलता का अन्त हो जाय और पुनः उस प्रकार के सुख की आशा ही न हो जिसके राग से प्रेरित हो कर भूल की गई थी, क्योंकि सुख की आशा से प्रेरित हो कर ही प्राणी भूल द्वारा उत्पन्न होने वाले सुख का उप-भोग करता है। अविवेक जन्य चित्त की अशुद्धि से ही सुख भोग में प्रवृत्ति होती है, जैसे कि लोभ के दोष से धन के उपभोग की लालसा तथा हानि का भय, मोह के दोष से संयोग की दासता तथा वियोग का भय; अभिमान के दोष से मान की लालसा तथा अपमान का भय; और काम के दोष से कामना पूर्ति की दासता तथा अभाव का भय उत्पन्न होता है।

प्रायश्चित्त के द्वारा चित्त शुद्ध हो जाने पर भोगासक्ति अर्थात् सुख लोलुपता मिट जाती है। सुख लोलुपता के मिट जाने पर दुःख जैसी कोई वस्तु शेष नहीं रहती, क्योंकि कोई ऐसा दुःख है ही नहीं जिसका जन्म किसी न किसी प्रकार के सुख-भोग से न हो।

सुख दुःख का अभाव होते ही हृदय में आनन्द की गङ्गा स्वतः लहराने लगती है। प्रायश्चित्त करने पर व्रती जीवन का आरम्भ होता है। व्रती जीवन से ही निर्दोष होने की लालसा सबल तथा स्थायी होती है जो भूल को उत्पन्न ही नहीं होने देती और असंयम एवं असावधानी को खा कर सतत् जागृत्ति प्रदान करती है, जिससे प्राणी साधन-युक्त जीवन द्वारा लक्ष्य की ओर प्रगतिशील होता है तथा बड़ी से बड़ी कठिनाइयों को सहर्ष सहन कर लेता

है—यही वास्तव में तप है। तप से आवश्यक शक्ति का विकास अपने आप होता है और सभी निर्बलतायें मिटने लगती हैं।

व्रतयुक्त जीवन को सुरक्षित रखने के लिए आस्तिक सरल विश्वासपूर्वक प्रार्थना का और भौतिकवादी तपश्चर्या का आश्रय लेता है।

प्रार्थना से निराभिमानता और निर्भयता आती है। तप से निर्बलता मिट जाती है। निराभिमानता आने पर अहंभाव शेष नहीं रहता और निर्बलता मिटने पर आवश्यक बल प्राप्त होता है। ज्यो-ज्यो प्राणी प्राप्त बल का सदुपयोग करता जाता है, त्यो-त्यों आवश्यक बल स्वतः मिलता जाता है। पर, जब बल का उपयोग उपभोग में होने लगता है, तब अनेकों प्रकार की निर्बलतायें स्वतः आने लगती हैं। बल का सदुपयोग निर्बलो की सेवा में है। निर्बलों की सेवा करते करते हृदय शुद्ध होने लगता है, हृदय शुद्ध होते ही सत्य की खोज और परम व्याकुलता स्वतः जाग्रत हो जाती है, जो अहभाव को खा कर साधक को वह नित्य जीवन प्रदान करती है जो सभी परिस्थितियो से अतीत है। इस जीवन में तपी और प्रार्थी दोनो ही समान हो जाते हैं। तपी बल को अपने तप का फल मानता है और प्रार्थी उसे प्रभु की देन जानता है। यद्यपि कोई भी बल किसी व्यक्ति की निजी सम्पत्ति नहीं है, जो 'है' उसी से सब कुछ मिलता है। प्राणी भिन्न-भिन्न प्रकार के उपचारो द्वारा 'है' की खोज करता है। 'है' किसी की उपज नहीं है प्रत्युत् खोज है, पर इस रहस्य को कोई विरले तत्वदर्शी ही जानते हैं।

प्रार्थना, व्यथित हृदय की पुकार तथा निर्बल का बल एवं आस्तिक का जीवन है। लक्ष्य की आवश्यकता का अनुभव करना ही वास्तव में प्रार्थना है। इस दृष्टि से प्राणी-मात्र प्रार्थना करता है। अन्तर केवल इतना है कि

आस्तिक केवल एक से और नास्तिक अनेकों से प्रार्थना करता है। आस्तिक की प्रार्थना सेवा करने के लिए और नास्तिक की प्रार्थना उपभोग के लिए होती है। आस्तिक प्रार्थना, द्वारा मिले हुए बल को अपना नहीं मानता प्रत्युत निर्बलों का अधिकार मानता है और नास्तिक प्राप्त बल को अपनी निजी सम्पत्ति मान कर दीनता तथा अभिमान आदि विकारों में आबद्ध हो जाता है जो दुःख का मूल है। 'है' को स्वीकार न करना और जो नहीं है उसी पर विश्वास करना नास्तिकता है। 'नहीं' को 'नहीं' जान कर 'है' के लिए परम व्याकुल होना आस्तिकता है। 'है' से अभिन्न होने पर 'नहीं' जैसी कोई वस्तु ही शेष नहीं रहती। फिर सब प्रकार के अभावों का अभाव हो जाता है। अभावो की वेदना 'नहीं' से विमुख करके, 'है' की ओर गतिशील करती है। जिसमें प्रवृत्ति तो हो किन्तु प्राप्ति न हो उसी को 'नहीं' समझना चाहिए और स्वाभाविक निवृत्ति आ जाने पर जिसकी स्वतः सिद्ध प्राप्ति हो उसी को 'है' जानना चाहिए।

प्राप्त शक्ति का सद्व्यय करने पर ही प्रार्थना करने का अधिकार मिलता है। शक्ति का संग्रह तथा अपव्यय करने पर की हुई प्रार्थना सफल नहीं होती, क्योंकि वह तो अनाधिकार चेष्टा है। अथवा यो कहो कि प्रार्थना वास्तव में सचाई की भूख है और कुछ नहीं। अतः ज्यों-ज्यों सत्य की खोज तथा उसकी अभिलाषा सबल होती जाती है त्यो-त्यो प्रार्थना प्रार्थी का जीवन बनती जाती है और जब तक प्रार्थना प्रार्थी तथा जिससे प्रार्थना की जाती है वे तीनों एक नहीं हो जाते, तब तक प्रार्थना होती ही रहती है।

इस दृष्टि से प्रार्थना मानव-जीवन का आवश्यक अङ्ग है। प्रतिकूल परिस्थितियों में प्रार्थना से ही नित्य नव उत्साह की वृद्धि होती है और

अनुकूल परिस्थितियों में उससे प्राप्त शक्ति का सद्व्यय करने की क्षमता प्राप्त होती है। अतः प्रत्येक अवस्था में प्रार्थना से प्राणी का हित ही होता है।

प्रार्थना, असमर्थ का अन्तिम प्रयास, सफलता का अचूक अस्त्र और आवश्यक सामर्थ्य प्रदान करने वाला महामन्त्र है अथवा यों कहो कि यह दुखियों की वास्तविक साधना है। प्रार्थना प्रत्येक परिस्थिति में सुगमतापूर्वक हो सकती है, क्योंकि उसके लिए किसी अन्य साधन-सामग्री की अपेक्षा नहीं है। इस दृष्टि से प्रार्थना प्राणी-मात्र की सहज साधना है।

प्रार्थना के सम्बन्ध में जो कुछ कहा जाय कम है, क्योंकि यह निराशा को आशा में, निर्बलता को बल में और असफलता को सफलता में परिवर्तित कर प्राणी को उसका अभीष्ट प्राप्त कराने में समर्थ है।

तीसरा नियम

विचार का प्रयोग अपने पर और विश्वास का दूसरो पर अर्थात् न्याय अपने पर और प्रेम तथा क्षमा अन्य पर ।

मानव-मात्र में विश्वास और विचार की शक्ति स्वभावत: विद्यमान है, कारण कि ऐसा कोई मानव नही है जिसका किसी न किसी पर विश्वास न हो और कुछ न कुछ जानता न हो। पर दोनो का यथेष्ट उपयोग वे ही कर पाते हैं जिनका जीवन साधन-युक्त है।

विश्वास एकता प्रदान करता है और विचार निर्दोषता। अतः अपने को निर्दोष बनाने के लिये विचार की और जिनसे भिन्नता प्रतीत होती है उनसे एकता स्थापित करने के लिए विश्वास की अत्यन्त आवश्यकता है। विचार अर्थात् निज ज्ञान का प्रकाश अपने दोषो का दर्शन कराता है तथा उनको मिटाने का उपाय प्रदर्शित करता है, कारण कि विचार से न्याय की स्थापना होती है। न्याय वही सार्थक होता है जो अपने पर किया जाय, क्योंकि अपना दोष-दर्शन जितनी स्पष्टता से प्रत्यक्ष होता है उतना अन्य का नहीं। न्याय कोई अनिष्टकर विधान नहीं है, प्रत्युत अपने सुधार का वास्तविक साधन है।

यदि प्राणी न्यायपूर्वक अपना सुधार स्वय कर ले तो फिर उसे राष्ट्रीय सामाजिक तथा प्राकृतिक न्याय और दड-विधान की आवश्यकता ही नहीं होगी अर्थात् वह दूसरों के शासन से सदा के लिए मुक्त हो जायगा। कारण कि शासन की आवश्यकता का उदय ही तब होता है, जब प्राणी अपने पर

अपने विवेक का शासन नहीं करता। वास्तविक स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए अपने पर अपना शासन अर्थात् नेतृत्व और न्याय करना परम आवश्यक है, जो निर्दोष बनाने में समर्थ है। हमें यही सीखना और सिखाना है कि जिन-जिन से जितनी-जितनी निकटता हो उनके प्रति उतना ही कठोर न्याय वर्तना चाहिए। इस दृष्टि से सब से कठोर न्याय हमे अपने मन, इन्द्रिय आदि के प्रति करना चाहिए और ज्यों-ज्यो किसी न किसी प्रकार की दूरी होती जाय, त्यो-त्यो न्याय को प्रेम तथा क्षमा में बदलते जाना चाहिए। निकटवर्तियों का सुधार न्याय से और दूरवर्तियों का सुधार प्रेम तथा क्षमा से ही सम्भव है।

संयम, तप, उदासीनता, नियन्त्रण, असहयोग, उपेक्षा आदि न्याय के ही अङ्ग हैं। इनके प्रयोग बिना निकटवर्तियो का हित सम्भव नहीं है। न्याय में सर्वदा हित-कामना विद्यमान रहती है, द्वेष नहीं। लालच तथा भय रहित होने पर ही प्राणी न्याय के वास्तविक स्वरूप को जान पाता है और उसका प्रयोग कर सकता है। न्याय में दुराग्रह, क्रोध आदि विकारो के लिए कोई स्थान ही नहीं है, कारण कि क्रोध की उत्पत्ति तो अपनी कामना-पूर्ति के लिए होती है और न्याय में जिसके प्रति न्याय किया जाता है उसके हित की लालसा रहती है। न्याय में सत्याग्रह होता है, दुराग्रह नहीं। क्योंकि न्याय का जन्म विचार से होता है, प्रमाद से नहीं। सत्याग्रह असत्य को खा कर सत्य से अभिन्न करता है। इस दृष्टि से सत्याग्रह आदरणीय और दुराग्रह निन्दनीय है। न्याय किसी का ऋणी नहीं रहने देता। न्याय अपने को क्षमा नहीं करता। न्याय बल का दुरुपयोग नहीं होने देता। न्याय निर्बल को सबल और बलवान को उदार बनाने में समर्थ है। न्याय बलपूर्वक अन्याय का पक्षपाती है अर्थात् असयमी को संयमी, संग्रही को उदार, स्वार्थी

को परार्थी और हिंसक को अहिंसक होने की प्रेरणा देता है। न्यायपूर्वक बल का उपयोग करने से न तो किसी का विनाश होता और न किसी के अधिकारों का अपहरण होता है। न्याय प्रेम तथा क्षमा का पोषक है, विरोधी नहीं। न्याय विभाजन पूर्वक एकता का समर्थक है अर्थात् उसकी मांग है कि अपने अपने स्थान पर सभी के अधिकार सुरक्षित रहें, सभी के विकास के साधन प्रस्तुत हों और कर्त्तव्य परायणता को ही प्राणी अपना वास्तविक अधिकार माने। कारण कि अधिकार तो कर्त्तव्य का ही दास है। किसी और की उदारता से किसी के अधिकार की रक्षा स्थायी रूप से सुरक्षित नहीं रह सकती। अतः अपने पर स्वयं न्याय करके कर्त्तव्य द्वारा दूसरे के अधिकार की रक्षा को ही अपना अधिकार मानना चाहिए। दूसरे के अधिकारों की रक्षा को अपना अधिकार मानना ही वास्तव में प्रेम है। अतः प्रेम भिन्नता को अभिन्नता में, क्रोध को क्षमा में, सकीर्णता को व्यापकता में और कृपणता को उदारता में परिवर्तित कर देता है। फिर वाह्य भाषा, वेष, वर्ण और कर्म आदि के भेद रहने पर भी प्रीति की एकता सुरक्षित रहती है; क्योंकि प्रेम नित नव प्रीति का पोषक और रक्षक है। प्रेम की उत्पत्ति सरल विश्वास से अथवा यथार्थ ज्ञान से होती है। जिसे हम अपना मान लेते हैं उससे स्वतः ही प्रेम होने लगता है और जिसे हम सब प्रकार से जान लेते हैं उससे भी अपने आप प्रेम हो जाता है। अधूरा विश्वास तथा सन्देहयुक्त ज्ञान प्रेम का विनाशक है। प्रेम के बिना नित नव रस की उपलब्धि सम्भव नहीं है। रस रहित जीवन निरर्थक जीवन है। रस से ही जीवन की सार्थकता है। रसयुक्त जीवन किसी के लिए भी दुःखद नहीं होता; क्योंकि स्वयं खिन्न होने पर ही प्राणी दूसरों को दुःखी करता है। जिसका हृदय रस तथा प्रसन्नता से भरा है उसी से समाज को प्रसन्नता प्राप्त हो सकती है। प्रसन्नता सदा उसी

के हृदय में निवास करती है जिसका हृदय प्रेम और क्षमा से भरपूर है। क्षमा माँगने से निर्दोषता और क्षमा करने से निर्वैरता स्वतः आ जाती है। वैरभाव से रहित हृदय में ही प्रीति की गंगा लहराती है। अपने प्रति किए हुए अपराधों को क्षमा करना और अपने द्वारा होने वाले अपराधों के लिए क्षमा माँगना महान् बल है, निर्बलता नहीं। क्षमा माँगने का वास्तविक अर्थ है कि जिस अपराध के लिए क्षमा प्रार्थना की गई है उस अपराध को फिर कभी किसी के प्रति न किया जाय और क्षमा करने का तात्पर्य यह है कि अपने प्रति होने वाली बुराई को सदा के लिए भुला दिया जाय एवं हृदय निर्वैरता तथा प्रीति से भर जाय।

निर्वैरता के बिना परस्पर का संघर्ष मिट नहीं सकता और निर्वैरता क्षमाशीलता तथा प्रेम के बिना सम्भव नहीं है। केवल बल के प्रयोग द्वारा संघर्ष कुछ काल के लिये दब सा जाता है, मिटता नहीं। बल तो निर्बलों का अधिकार है और कुछ नहीं, अर्थात् बल के द्वारा निर्बलों के विकास और रक्षा के साधन उत्पन्न किए जा सकते हैं। बल का उपयोग किसी के विनाश में करना अपने को निर्बल बनाना है; क्योंकि इससे प्रतिहिंसा की भावना जाग्रत होती है, जिससे कालान्तर में घोर संघर्ष उत्पन्न होता है।

अपने को निर्दोष बनाने और परस्पर प्रीति की एकता का संचार एवं संघर्ष का उन्मूलन करने के लिए अपने प्रति न्याय तथा दूसरों के प्रति प्रेम और क्षमा का प्रयोग करना परम आवश्यक है।

चौथा नियम

जितेन्द्रियता, सेवा, भगवच्चिन्तन और सत्य की खोज द्वारा अपना निर्माण ।

अपना निर्माण करने अर्थात् अपने को सुन्दर बनाने के लिए इन्द्रिय लोलुपता से जितेन्द्रियता की ओर, स्वार्थ से सेवा की ओर, विषय-चिन्तन तथा व्यर्थ-चिन्तन से भगवच्चिन्तन तथा सार्थक चिन्तन की ओर एवं असत्य से सत्य की ओर गतिशील होना नितान्त आवश्यक है—कारण कि जब तक प्राणी अपने पर अपना शासन नहीं कर लेता, अपनी बनाई हुई पराधीनताओं का त्याग करके स्वाधीन नहीं हो जाता, निरर्थक चिन्तन और चेष्टाओं से रहित नहीं होता, अपने को सहृदय और उदार नहीं बना लेता, सत्य के प्रति प्रियता नहीं उत्पन्न कर लेता, तब तक वह अपने को सुन्दर नहीं बना सकता—यह निर्विवाद सिद्ध है ।

इन्द्रिय लोलुपता परिवर्त्तनशील सुख की ओर तथा जितेन्द्रियता हित की ओर प्रेरित करती है। सुख और हित में एक बड़ा अन्तर यह है कि सुख के भोगी पर वस्तुओं और व्यक्तियों का शासन होने लगता है अर्थात् उसकी स्वाधीनता पराधीनता में बदल जाती है। इतना ही नहीं उसमें शक्तिहीनता और हृदयहीनता आदि अनेकों निर्बलताएँ अपने आप आ जाती हैं। इसके विपरीत हित को अपनाने पर पराधीनता स्वाधीनता में, हृदयहीनता सहृदयता में और निर्बलता सबलता में बदल जाती है; क्योंकि हित हमें 'पर' से 'स्व' की ओर प्रेरित करता है। हित का अभिलाषी प्राणी 'यह' से 'मैं'

की ओर बढ़ता है अर्थात् वह दृश्य से विमुख होकर द्रष्टा में प्रतिष्ठित हो जाता है। फिर विषय इन्द्रियों में, इन्द्रियाँ मन में, मन बुद्धि में और बुद्धि उसमें लीन हो जाती है जो सबसे अतीत है। इस प्रकार बुद्धि के सम होने पर मन में निर्विकल्पता आ जाती है, फिर इन्द्रियाँ विषय-विमुख होकर मन से अभिन्न हो जाती हैं—बस यही जितेन्द्रियता का वास्तविक स्वरूप है। जितेन्द्रियता प्राप्त होते ही शक्तिहीनता और पराधीनता का अन्त हो जाता है; क्योंकि इन्द्रियजय से आवश्यक शक्ति का विकास स्वतः होने लगता है। पर जब तक स्वार्थभाव मिट नहीं जाता, तब तक इन्द्रियजय करने में तत्परता नहीं होती। विषयासक्त प्राणी केवल उस क्षणिक सुख पर ही दृष्टि रखता है जो इन्द्रिय लालुपता का मूल है। स्वार्थभाव मिटाने के लिए सेवा-भाव अपना लेना सर्वथा अनिवार्य है; क्योंकि सेवा स्वार्थ को खा कर सेव्य से अभिन्न कर देती है। प्राप्त सुख को दुखियों के समर्पण कर देना ही वास्तव में सेवा है। सेवा के बिना सुखासक्ति कदापि नहीं मिट सकती। सुखासक्ति का अन्त बिना किए कोई भी प्राणी जड़ता से चेतनता की ओर गतिशील नहीं हो सकता। भौतिकवादी विश्व के नाते, ईश्वरवादी ईश्वर के नाते और अध्यात्मवादी निजस्वरूप के नाते सेवा करता है। विश्व के नाते सेवा करने पर निर्वासना नहीं आती, कारण कि उस बेचारे को अपने लिये भी विश्व का ही आश्रय लेना पड़ता है, अर्थात् थोड़ा लेकर अधिक देना ही भौतिक-वादी की उदारता की पराकाष्ठा है। स्वरूप की एकता के कारण अध्यात्मवादी अपने में ही विश्व को और विश्व में अपने को जानता है। अतएव, जिसको जो कुछ देता है उसको उसी को वस्तु मानता है—अथवा यों कहो कि उसे अपने से भिन्न का अनुभव ही नहीं होता। ईश्वरवादी प्रत्येक वस्तु ईश्वर की जानता है और जिनकी सेवा करता है उनको भी ईश्वर का ही मानता है।

इसलिए वह सेवा के अन्त में विषय-चिन्तन से मुक्त होकर भगवच्चिन्तन में में लग जाता है। ज्यों-ज्यों भगवच्चिन्तन सबल तथा स्थायी होता जाता है त्यों-त्यों अचिन्तता अपने आप आती जाती है। सब प्रकार के चिन्तन से रहित होते ही अहंभाव गल जाता है, फिर केवल प्रेम ही प्रेम शेष रहता है। यही भगवच्चिन्तन का वास्तविक स्वरूप है।

जिससे असत्य को जानते हैं, वही सत्य है। असत्य से विमुख होने पर सत्य से अभिन्नता स्वतः हो जाती है। असत्य से विमुख होने के लिए भोग को योग में परिवर्तित करना अनिवार्य है। भोग को योग में परिवर्तित करने के लिए स्वार्थ को सेवा में बदलना अनिवार्य है और स्वार्थ को सेवा में बदलने के लिए इन्द्रियजय अत्यन्त आवश्यक है।

सारांश यह है कि सन्देह की वेदना सत्य की खोज जाग्रत करती है। सरल विश्वास भगवच्चिन्तन में प्रवृत्त करता है, हृदयशीलता सेवा को सजीव बनाती है और स्वाधीनता की माँग जितेन्द्रियता के लिए विवश करती है। इन चारों से मानव का निर्माण होता है।

पाँचवाँ नियम

दूसरों के कर्त्तव्य को अपना अधिकार, दूसरों की उदारता को अपना गुण और दूसरों की निर्बलता को अपना बल न मानना।

यद्यपि किसी का कर्त्तव्य ही किसी का अधिकार और किसी का अधिकार ही किसी का कर्त्तव्य होता है, पर दूसरे के कर्त्तव्य को अपना अधिकार मान लेने पर अधिकार लालसा की वृद्धि हो जाती है। यदि किसी कारण उसकी पूर्ति न हुई तो क्षोभ और क्रोध आदि विकार उत्पन्न होने लगते हैं, परिणाम में साधन द्वारा निर्मित सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि दूसरे के कर्त्तव्य को अपना अधिकार मानना उचित नहीं है, पर दूसरे के अधिकार को अपना कर्त्तव्य मानना परम आवश्यक है, क्योंकि कर्त्तव्य परायणता से ही उत्तरोत्तर विकास होता है।

क्रोध और क्षोभ आदि विकारों से मन में मलिनता, हृदय में अशुद्धि, बुद्धि में अविवेक आ जाता है, जो पतन का मूल है। अतएव प्राप्त सौन्दर्य को सुरक्षित रखने के लिए क्षोभ रहित होना अत्यन्त आवश्यक है। क्षोभित होते ही धीरता, वीरता और गम्भीरता क्षीण हो जाती है, जिससे अनेक निर्बलताएँ अपने आप आ जाती हैं।

गुणों का अभिमान दोषों का मूल है, कारण कि वास्तविक निर्दोषता गुणों से अतीत है। यदि प्राणी अपने प्रति होने वाले सद्व्यवहार और

आदर सम्मान आदि को करने वाले की उदारता न मानकर अपना गुण मान लेगा तो गुण में आबद्ध हो जाएगा और दूसरे की उदारता का आदर न कर पाएगा, जिससे उसकी हृदयशीलता विकसित न हो सकेगी।

हृदयशीलता के बिना सरसता नीरसता में और मधुरता कटुता में बदल जाती है, जिससे परस्पर स्नेह की वृद्धि नहीं हो पाती। इतना ही नहीं, कालान्तर में गुण दोषों में बदलने लगते हैं, क्योंकि गुणों का उपभोग करने से सीमित अहंभाव तथा परिच्छिन्नता दृढ़ होती है और परिच्छिन्नता दृढ़ होने से वासनाओं का उदय होने लगता है, जो ह्रास का मूल है।

प्रत्येक गुण के उपभोग में किसी न किसी अंश में दोष विद्यमान रहते हैं। इतना ही नहीं, उपभोग स्वयं एक बड़ा दोष है, क्योंकि उपभोग के रस में आबद्ध प्राणी एकता को सुरक्षित नहीं रख पाता। उसके जीवन में अनेक प्रकार के भेद उत्पन्न हो जाते हैं जो भय के मूल हैं। यह नियम है कि भयभीत प्राणी ही दूसरों को भय देता है। भयरहित हुए बिना अभिन्नता आ नहीं सकती। अभिन्नता के बिना वासनाओं का अन्त सम्भव नहीं है और निर्वासना के बिना निर्वैरता, समता, मुदिता आदि वे दिव्य गुण उत्पन्न ही नहीं होते— जो मानव की माँग है। जो बल दूसरों की निर्बलताओं को दूर नहीं कर सकता वह वास्तव में बल ही नहीं है। बल के द्वारा निर्बलों पर विजयी होना अपने बल को दूषित करना है, क्योंकि पराजित होने पर एक गहरी वेदना उत्पन्न होती है और विजयी होने पर अभिमान आ जाता है। अभिमान प्रमाद को जन्म देता है और वेदना जागृति उत्पन्न करती है। प्रमाद से शक्तिहीनता का और जागृति से उत्तरोत्तर शक्ति का संचय होने लगता है।

फिर पारस्परिक संघर्ष उत्पन्न हो जाता है, जो पराजित को विजयी और विजयी को पराजित करता रहता है।

यदि किसी की निर्बलता को अपना बल न माना जाय तो निरभिमानता स्वतः आ जाती है। निरभिमानता आ जाने पर आपस में एकता का सञ्चार होने लगता है और बल निर्बलों की सेवा में लग जाता है, जिससे निर्बलता तथा बल का अभिमान मिट कर वास्तविक सबलता आ जाती है, जो सभी को प्रिय है।

छठा नियम

पारिवारिक तथा जातीय सम्बन्ध न होते हुए भी पारिवारिक भावना के अनुरूप ही पारस्परिक सम्बोधन तथा सद्भाव अर्थात कर्म की भिन्नता होने पर भी स्नेह की एकता।

प्रत्येक प्राणी का अस्तित्व ससार-सागर की एक बूंद के तुल्य है अथवा यों कहो कि सारा विश्व एक ही प्रकृति का कार्य है। कारण और कार्य में स्वरूप की एकता होने पर भी गुणों की भिन्नता होती है। गुणों की भिन्नता के कारण कर्म की भिन्नता और स्वरूप की एकता के कारण स्नेह तथा लक्ष्य की एकता का होना निर्विवाद सत्य है। इस दृष्टि से हम सब किसी एक की ही सत्ता से सत्ता वाले, और किसी एक के प्रकाश से ही प्रकाशित हैं। अतएव गुणों की भिन्नता के कारण व्यवहारिक भिन्नता होने पर भी परस्पर में आत्मीयता का परिचय देने के लिए पारिवारिक भावनाओं के अनुरूप ही पारस्परिक सम्बोधन तथा सद्भाव करना आवश्यक है।

सद्भाव हृदय की वस्तु है और प्रीति का उद्गम स्थान है। सद्भाव के अनुरूप ही कर्म का जन्म होता है और कर्म के अनुसार ही सम्बन्ध की स्थापना होती है। सम्बन्ध के अनुरूप सम्बोधन होने पर कर्त्तव्य कर्म की दृढ़ता होती है, जिससे व्यक्ति और समाज दोनों का निर्माण होता है, सच्चरित्रता की उत्तरोत्तर वृद्धि होती है।

साधन निर्माण के लिये ही पारस्परिक सद्भाव की स्वीकृति की जाती है। अपवित्रता को पवित्रता में परिवर्तित करने के लिये ही भिन्न भिन्न प्रकार के सम्बन्धों की स्थापना की गई है। अतएव सम्बन्ध के अनुरूप ही सम्बोधन करना उचित है। यदि स्थापित किये हुये सम्बन्धों के अनुरूप सम्बोधन न किया जाय तो पवित्रता को सुरक्षित रखना सम्भव नहीं है। क्योंकि देहाभिमान रहते हुये पशु प्रकृति का भी प्रभाव रहता है। पशुता को मानवता में बदलने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि जो सम्बन्ध अपनी सांस्कृतिक मर्यादा एवं सामाजिक व्यवस्था के अनुरूप स्वीकार किए गये हैं, उस स्वीकृति के अनुसार ही सम्बोधन किया जाय, इससे सद्भाव की सिद्धि होती है अर्थात् पारस्परिक व्यवहार में पवित्रता आ जाती है। सद्भाव की सिद्धि होने पर राग को वैराग्य में और भोग को योग में परिवर्तित करने के लिये देहाभिमान से रहित होना अनिवार्य है। यह तभी सम्भव होगा जब कर्म की भिन्नता होने पर भी स्नेह की एकता को अपनाया जाय। यह नियम है कि ज्यों ज्यों स्नेह की एकता बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों स्वार्थ-भाव अर्थात् भोग की इच्छा मिटती जाती है। इच्छाओं का अन्त होते ही चित्त शुद्ध हो जाता है। चित्त शुद्ध होने पर सब प्रकार के राग का अन्त हो जाता है। राग का अन्त होते ही वीतरागता स्वतः आ जाती है और वीतरागता आते ही प्राणी-मात्र में आत्मीयता अर्थात् सर्वात्मभाव हो जाता है।

सातवाँ नियम

निकटवर्ती जन-समाज की यथाशक्ति क्रियात्मक रूप से सेवा करना।

प्रत्येक प्राणी में विवेक-भाव तथा क्रियाशक्ति विद्यमान है। जब प्राणी विवेक से भाव तथा भाव से क्रिया की ओर गतिशील होता है, तब भोग में आबद्ध होता जाता है, किन्तु भोग से योग की ओर गतिशील होने के लिये क्रिया को भाव में और भाव को विवेक में विलीन करना होगा। इसी मूल सिद्धात को चरितार्थ करने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि हमारी प्रत्येक चेष्टा किसी एक ही भाव में विलीन हो। जब सभी चेष्टाएँ एक ही भाव में विलीन हो जायगी तब भाव स्वयं विवेक में विलीन हो जायगा जो वास्तव में योग है। अतः भोग से योग की ओर गतिशील होने के लिये प्रत्येक क्रिया द्वारा अपने भाव को सुदृढ़ करना होगा। भाव असीम और क्रिया सीमित होती है। अतएव असीम भाव को सबल तथा स्थायी बनाने के लिये निकटवर्ती जन-समाज की यथाशक्ति सेवा करना आवश्यक है, कारण कि प्रत्येक व्यक्ति की शक्ति सीमित है, समीपस्थ समाज की क्रियात्मक रूप से सेवा करने से परस्पर एकता का प्रसार होगा और पवित्र भावों की दृढ़ता होगी, जिससे भाव विवेक में विलीन होकर प्राणी को सहज योग में प्रतिष्ठित कर देगा।

सेवा करते समय केवल इसी बात पर दृष्टि रहे कि प्राप्त सुख किसी दुखी

के अधिकार की रक्षा में व्यय हो रहा है। वह दुखी कौन है? क्या है? इस पर लेशमात्र भी दृष्टि नहीं जानी चाहिए। जो अपने समीप रहता है, उसका अपने पर कुटुम्बीजनों के समान ही अधिकार है। वैसे तो प्राणी जिन्हें अपना मान लेता है उनसे प्रीति और उनकी सेवा स्वाभाविक ही करता है, पर मोहयुक्त होने के कारण वह केवल उन्हीं को अपना मानता है जिनसे शारीरिक सम्बन्ध है, दूसरों को अपना नहीं मानता। किन्तु सेवक के जीवन में तो मोह के लिए कोई स्थान ही नहीं रहता, अतः उसका तो सब कुछ सभी के लिए होता है।

एकता अनेक प्रकार की होती है—सामाजिक एकता, कर्म की एकता, प्रीति की एकता, विचारों की एकता, लक्ष्य की एकता इत्यादि इत्यादि। पर, सब के साथ वास्तविक एकता तो जातीय अथवा स्वरूप की है। स्वरूप की एकता का अनुभव तत्व-दृष्टि से होता है, जातीय एकता का अनुभव आस्तिक बुद्धि से होता है और मानी हुई एकता व्यवहारिक दृष्टि से प्रतीत होती है। जिनसे अपना सम्बन्ध है अथवा जो अपने समीप हैं, वे ही निकटवर्त्ती हैं। उनकी क्रियात्मकरूप से सेवा करने से भाव में शुद्धता आ जाती है। ज्यों-ज्यों भाव शुद्ध होता जाता है, त्यों-त्यों दूरी तथा भेद मिट जाता है। ज्यों-ज्यों भेद मिटता जाता है, त्यों-त्यों सेवा की सद्भावना विभु अर्थात् व्यापक होती जाती है। फिर निकटवर्ती तथा दूरवर्ती का भेद नहीं रहता। विवेक से सद्भाव की उत्पत्ति होती है और क्रियात्मक सेवा से उसकी पुष्टि होती है। प्राणी जहाँ है वहीं भाव के अनुरूप सुगमता-पूर्वक रचनात्मक सेवा कर सकता है। जिस किसी को जो कुछ मिला है वह प्राकृतिक न्याय है। इस दृष्टि से हमारा पड़ोसी चाहे जैसा हो हमारी-सेवा का अधिकारी है। जिसे किसी भी नाते से अपना कह सकते हैं, वह अपना निकटवर्ती है।

आध्यात्मिक और आस्तिकवाद की दृष्टि से चराचर जगत अपना निकटवर्ती है, पर सृष्टि अनन्त और व्यक्तिगत शक्ति सीमित होने के कारण क्रियात्मक-रूप से तो समीपस्थ प्राणियों की ही सेवा हो सकती है, तथापि भाव असीम रह सकता है। असीम भाव होने पर राग द्वेष मिट जाते हैं, हृदय त्याग और प्रेम से भर जाता है। सेवा करने के लिए तो सभी अपने हैं पर अपने लिए तो केवल वे ही अपने हैं जो सभी वस्तु-अवस्था एव परिस्थितियों से अतीत हैं। उनसे अभिन्नता अथवा सर्वहितकारी भावना की दृढ़ता त्याग और प्रेम से ही सम्भव है। प्रेम वही कर सकता है जो किसी का बुरा नहीं चाहता और त्याग वही कर सकता है जो चाह रहित है। किसी का बुरा न चाहने से हृदय प्रेम से भर जाता है और चाह रहित होने से त्यागमय जीवन हो जाता है। अतः त्याग एवं प्रेमयुक्त जीवन बनाने के लिये स्वार्थ रहित भाव से निकटवर्ती जनसमाज की यथाशक्ति सेवा करना अनिवार्य है।

के अधिकार की रक्षा में व्यय हो रहा है। वह दुखी कौन है? क्या है? इस पर लेशमात्र भी दृष्टि नहीं जानी चाहिए। जो अपने समीप रहता है, उसका अपने पर कुटुम्बीजनों के समान ही अधिकार है। वैसे तो प्राणी जिन्हें अपना मान लेता है उनसे प्रीति और उनकी सेवा स्वाभाविक ही करता है, पर मोहयुक्त होने के कारण वह केवल उन्हीं को अपना मानता है जिनसे शारीरिक सम्बन्ध है, दूसरों को अपना नहीं मानता। किन्तु सेवक के जीवन में तो मोह के लिए कोई स्थान ही नहीं रहता, अतः उसका तो सब कुछ सभी के लिए होता है।

एकता अनेक प्रकार की होती है—सामाजिक एकता, कर्म की एकता, प्रीति की एकता, विचारों की एकता, लक्ष्य की एकता इत्यादि इत्यादि। पर, सब के साथ वास्तविक एकता तो जातीय अथवा स्वरूप की है। स्वरूप की एकता का अनुभव तत्व-दृष्टि से होता है, जातीय एकता का अनुभव आस्तिक बुद्धि से होता है और मानी हुई एकता व्यवहारिक दृष्टि से प्रतीत होती है। जिनसे अपना सम्बन्ध है अथवा जो अपने समीप हैं, वे ही निकटवर्त्ती हैं। उनकी क्रियात्मकरूप से सेवा करने से भाव में शुद्धता आ जाती है। ज्यों-ज्यों भाव शुद्ध होता जाता है, त्यों-त्यों दूरी तथा भेद मिट जाता है। ज्यों-ज्यों भेद मिटता जाता है, त्यों-त्यों सेवा की सद्भावना विभु अर्थात् व्यापक होती जाती है। फिर निकटवर्त्ती तथा दूरवर्ती का भेद नहीं रहता। विवेक से सद्भाव की उत्पत्ति होती है और क्रियात्मक सेवा से उसकी पुष्टि होती है। प्राणी जहाँ है वहीं भाव के अनुरूप सुगमता-पूर्वक रचनात्मक सेवा कर सकता है। जिस किसी को जो कुछ मिला है वह प्राकृतिक न्याय है। इस दृष्टि से हमारा पड़ोसी चाहे जैसा हो हमारी सेवा का अधिकारी है। जिसे हम किसी भी नाते से अपना कह सकते हैं, वह अपना निकटवर्त्ती है।

आध्यात्मिक और आस्तिकवाद की दृष्टि से चराचर जगत अपना निकटवर्ती है, पर सृष्टि अनन्त और व्यक्तिगत शक्ति सीमित होने के कारण क्रियात्मक-रूप से तो समीपस्थ प्राणियों की ही सेवा हो सकती है, तथापि भाव असीम रह सकता है। असीम भाव होने पर राग द्वेष मिट जाते हैं, हृदय त्याग और प्रेम से भर जाता है। सेवा करने के लिए तो सभी अपने हैं पर अपने लिए तो केवल वे ही अपने हैं जो सभी वस्तु-अवस्था एव परिस्थितियों से अतीत हैं। उनसे अभिन्नता अथवा सर्वहितकारी भावना की दृढ़ता त्याग और प्रेम से ही सम्भव है। प्रेम वही कर सकता है जो किसी का बुरा नहीं चाहता और त्याग वही कर सकता है जो चाह रहित है। किसी का बुरा न चाहने से हृदय प्रेम से भर जाता है और चाह रहित होने से त्यागमय जीवन हो जाता है। अतः त्याग एवं प्रेमयुक्त जीवन बनाने के लिये स्वार्थ रहित भाव से निकटवर्ती जनसमाज की यथाशक्ति सेवा करना अनिवार्य है।

आठवाँ नियम

शारीरिक हित की दृष्टि से आहार-विहार में संयम तथा दैनिक कार्यों में स्वावलम्बन।

मानव शरीर बड़े ही महत्व की वस्तु है, क्योंकि इस तन से ही प्राणी साधना में प्रवृत्त होकर अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त कर कृत-कृत्य हो सकता है। अतः ऐसे अनुपम शरीर के हित के लिए आहार-विहार में संयम करना परम आवश्यक है। किन्तु असावधानी के कारण प्राणी हित की दृष्टि को त्याग कर सुख की दृष्टि अपनाता है, अर्थात् आहार-विहार में विलासी तथा असंयमी हो जाता है। इसका परिणाम बड़ा ही भयंकर तथा दुःखद सिद्ध होता है, क्योंकि अहितकर चेष्टाओं में प्रवृत्त होना जीवन का अनादर है, प्रकृति का विरोध है और अपौरुषेय विधान का उल्लंघन है। इतना ही नहीं, प्राणी सुख-दुःख के पाश में आबद्ध होकर अपने को दीन-हीन बना लेता है और साधनयुक्त जीवन से वञ्चित हो जाता है। यही वास्तव में पशुता है। आहार का सम्बन्ध प्राण अर्थात जीवन-शक्ति से है और विहार का सम्बन्ध मन इन्द्रिय आदि से है। प्राण-शक्ति का क्षय अथवा अभाव होने पर मन-इन्द्रियादि सभी अपने कर्त्तव्य से च्युत हो जाते हैं जिससे प्राणी अपने अभीष्ट को प्राप्त नहीं कर पाता। इस दृष्टि से जीवन-शक्ति का सुरक्षित रखना तथा उसका सद्व्यय करना अत्यन्त आवश्यक है।

जीवन-शक्ति को सुरक्षित रखने के लिए आहार अर्थात् भोजन-विज्ञान

पर यथेष्ट विचार करना चाहिए और जिस आहार से शारीरिक हित हो उसी का सेवन करना चाहिए।

आहार बहुधा तीन प्रकार के होते हैं। १- हितकर, २- रुचिकर, ३- सुखकर। हितकर आहार सदैव करना चाहिये, रुचिकर कोई एक वस्तु होनी चाहिए और सुखकर कभी-कभी लेना चाहिए। हितकर भोजन वही है जिसमें अधिक से अधिक प्राकृतिकता तथा सात्विकता हो—जैसे स्वस्थ गऊ का धारोष्ण दुग्ध और गेहूं, जौ, चावल, मूँग, फल एवं पत्ती वाले शाक इत्यादि। रुचिकर और सुखकर भोजन में इतना अन्तर है कि रुचि तो उसे कहते हैं जो शरीर की आवश्यकतानुसार यथा समय रसों में से किसी एक रस विशेष की हुआ करती है, वस्तु की नहीं इस प्रकार सुखकर भोजन में तो स्वाद की प्रधानता होने के कारण किसी वस्तु विशेष का आग्रह रहता है, केवल रस का नहीं और रुचिकर भोजन में प्रधानता रस की होती है, स्वाद की नहीं, यद्यपि स्वाद रुचिकर रस में ही आता है किन्तु तृष्णापूर्वक भोजन करने से रस का बोध हो नहीं पाता, केवल वस्तु तथा स्वाद में प्रवृत्ति दृढ़ हो जाती है, जो अनेक प्रकार के रोगों की उत्पत्ति का कारण है। आसक्तिपूर्वक भोजन करने का स्वभाव केवल इस कारण बन जाता है कि प्राणी भोजन में ही जीवन बुद्धि कर लेते हैं जो वास्तव में प्रमाद है। भोजन वास्तव में यज्ञ है, उपभोग नहीं। इस दृष्टि से भोजन में उन्हीं वस्तुओं को लेना चाहिए जिनसे प्राण-देवता की यथावत् पूजा-सेवा हो सके अर्थात् प्राण-शक्ति सुरक्षित रह सके। यज्ञ में उन्हीं वस्तुओं का उपयोग होता है, अर्थात् आहुति दी जाती है जो हितकर हों और हित उन्हीं वस्तुओं से होता है जो स्वभाव से सात्विक हों।

भोजन कब और कैसे करना चाहिए—इसकी जानकारी भी आवश्यक है। स्वास्थ्य की दृष्टि से दिन के दूसरे पहर में और रात्रि के प्रथम पहर में ही भोजन कर लेना चाहिए। भोजन शान्त तथा प्रसन्न चित्त से चबा-चबा कर करना चाहिए, जिससे मुह का लाला रस पर्याप्त मात्रा में मिल जाय, इस सम्बन्ध में किसी-किसी ने तो यहाँ तक कह दिया है कि भोज्य पदार्थों को पीओ और पेय पदार्थों को खाओ, अर्थात् भोज्य पदार्थों को इतना चबाओ कि वह तरल बन जाय। भोजन की मात्रा न तो अधिक हो, न कम, भोजन उतनी ही मात्रा मे करना चाहिए। जिससे पेट का भान न हो। पेट का भान न्यून या अधि आहार करने पर ही होता है। ये दोनों स्थितियाँ ही अप्राकृतिक हैं। कुछ न कुछ शारीरिक श्रम बिना किये भोजन करना अहितकर है, अतएव कुछ श्रम करने के पश्चात् ही भोजन करना चाहिए। भोजन की उत्पत्ति तथा उसके पचाने का सम्बन्ध सूर्य से है। इसी कारण दिन के दूसरे पहर के भीतर और रात्रि के प्रथम पहर में भोजन करना हितकर होता है। भोजन उन्हीं लोगों का बनाया हुआ स्वास्थ्यकर होता है जिनसे कर्म, विचार तथा स्नेह की एकता हो। भोजन करते समय इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि अपने समीप कोई ऐसा प्राणी तो नही है जिसने भोजन न किया हो। जहाँ तक हो सके यथाशक्ति बाँटकर ही भोजन करना चाहिए। भोजन बनाते तथा बनवाते समय इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि बनाए हुए भोजन में से दूसरों को भी देना है। केवल अपने लिए ही भोजन बनाना अथवा बनवाना उचित नहीं है; क्योंकि प्रत्येक प्राणी ने उस अवस्था में भी भोजन किया है जब कि वह स्वय नहीं बना सकता था। इस निर्विवाद सत्य का सदैव आदर

करना चाहिए। स्मरण रहे कि हमें जो कुछ मिला है वह किसी की देन है। अतएव देने के योग्य होने पर देकर ही भोजन करना चाहिए।

विहार मन इन्द्रिय आदि का भोजन है। इस सम्बन्ध में भी यथेष्ट ध्यान रखना अनिवार्य है। मन, इन्द्रिय आदि में उत्पन्न हुये वेग को दबाना अथवा अमर्यादित ढग से पूरा करना उचित नहीं है। जो वेग उत्पन्न हो उसको नियमानुकूल साधन-बुद्धि से पूरा करना चाहिए। वेग छिपे हुए राग का परिणाम है। जिस राग को विवेक पूर्वक नहीं मिटा पाते उसकी वास्तविकता का अनुभव करने के लिये नियमित एव धर्मानुकूल प्रवृत्ति अनिवार्य है। तथा प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में स्वाभाविक निवृत्ति को अपना कर मन एवं इन्द्रिय आदि को स्वस्थ तथा शान्त करना चाहिए; क्योंकि प्रवृत्ति के अन्त में मन, इन्द्रिय आदि के शान्त तथा स्थिर होने पर ही आवश्यक शक्ति का विकास होता है—जो उन्नति का मूल है।

छींक, प्यास, भूख, निद्रा एव मलमूत्र-त्याग इत्यादि शारीरिक वेगों का यथा समय तुरन्त निवारण करना ही स्वास्थ्यकर है। कामवेग के सम्बन्ध की बात पर भी विचार करना आवश्यक है। मनोविज्ञान की दृष्टि से काम का वेग शरीर के अन्य सभी वेगों से बलवान तथा प्रधान है। जब तक सर्व इन्द्रियों का ब्रह्मचर्य सिद्ध नहीं हो जाता, तब तक काम पर विजयी होना सम्भव नहीं। शरीर की सत्यता तथा सुन्दरता एवं इन्द्रिय जन्य ज्ञान का सदैव जब तक रहता है, तब तक काम का अन्त नहीं हो पाता। अतः काम पर विजयी होने के लिए शरीर की वास्तविकता का यथेष्ट ज्ञान तथा अपने अभीष्ट में अत्यन्त प्रियता का जागृत होना अनिवार्य है, कारण कि लक्ष्य की प्रियता का रस सभी इच्छाओं को खाकर तीव्र लालसा उत्पन्न

अतः वह काम का अन्त करने में समर्थ है। किसी आस्तिक का कथन है कि राम की लालसा काम को खा कर राम से अभिन्न कर देती है। इसके अतिरिक्त जहाँ तक हो सके व्यक्तिगत दैनिक कार्य अपने आप कर लेना चाहिए। किसी अन्य की सहायता उस समय तक न ली जाय जब तक कोई विवशता न आ जाय; कारण कि स्वयं अपना काम अपने आप न करने से श्रम के महत्व का अनादर होता है जिससे प्राणी आलसी और विलासी बन जाता है, इससे अर्थ का महत्व बढ़ता है जो प्राणी में संग्रह की भावना उत्पन्न करता है। इससे प्राणी में तो मिथ्याभिमान आ जाता है और समाज में दरिद्रता की वृद्धि होती है। अतः स्वावलम्बन को अपना कर ही समाज को दरिद्रता का अपहरण तथा अपने को आलस्य, अभिमान एवं विलासिता से मुक्त किया जा सकता है।

नवाँ नियम

शरीर श्रमी, मन संयमी, बुद्धि विवेकवती, हृदय अनुरागी, तथा अहं को अभिमान शून्य करके अपने को सुन्दर बनाना।

अपने को सुन्दर बनाने के लिए शारीरिक श्रम अत्यन्त आवश्यक है; क्योंकि जिसका शरीर श्रमी नहीं होता वह न तो स्वस्थ रह सकता है और न समय का ही आदर कर पाता है। समय का अनादर जीवन का अनादर है, कारण कि समय का आदर बिना किये निश्चित कार्यक्रम की पूर्त्ति सम्भव नहीं है। दैनिक कार्यों की अपूर्त्ति से मन में चंचलता, खिन्नता और व्यर्थ चिन्तन आदि विकार उत्पन्न होते हैं जिसका परिणाम सर्वथा दुःखद ही सिद्ध होता है। अतएव, शारीरिक श्रम विकास का मूल है। शरीर के श्रमी होने पर मन में स्वतः संयम आ जाता है। ज्यों-ज्यों मन का संयम सबल तथा स्थायी होता जाता है त्यों–त्यों आगे पीछे का व्यर्थ चिन्तन मिटता जाता है। व्यर्थ चिन्तन मिटते ही मन में उत्पन्न हुए शुद्ध संकल्पों की पूर्त्ति स्वयं होने लगती है। यदि प्राणी संकल्पों की पूर्त्ति के सुख में अपने को आबद्ध न करे तो मन निर्विकल्प हो जाता है। मन के निर्विकल्प होते ही विषय इन्द्रियों में और इन्द्रियाँ मन में विलीन होने लगती हैं। फिर सहज ही योग की उपलब्धि हो जाती है।

योग कल्पतरु के समान है। यह जिज्ञासु को विचार, प्रेमी को प्रेम एवं भौतिक वादी को आवश्यक शक्ति प्रदान करता है। जिस प्रकार पृथ्वी में पड़ा हुआ बीज स्वयं उपजता है, उसी प्रकार मन के निर्विकल्प हो जाने पर

छिपी हुई वासनाओं की पूर्त्ति स्वय होने लगती है। इस दृष्टि से योग की आवश्यकता प्रत्येक मानव को है और उसकी उपलब्धि मन के संयमी होने पर ही सम्भव है। जब मन सयमी हो जाता है, तब बुद्धि सम होकर विवेकवती हो जाती है। फिर निर्मोहिता का उदय होकर अपने कर्त्तव्य और दूसरों के अधिकार का बोध हो जाता है। मोह रहित होने से निर्वासना आ जाती है। फिर किसी प्रकार का बन्धन शेष नहीं रहता। अर्थात् वास्तविक स्वाधीनता प्राप्त हो जाती है, जो सभी को प्रिय है। स्वाधीनता प्राप्त होते ही हृदय अनुरागी हो जाता है। अनुरागी हृदय में लेशमात्र भी राग–द्वेष शेष नहीं रहते। इतना ही नहीं अनुरागी हृदय मे तो जिन प्राणियों से किसी प्रकार का सम्बन्ध या परिचय नहीं हो, उन्हें भी सुखी देख कर प्रसन्नता और दुखी देख कर करुणा का संचार होता है, क्योंकि अनुरागी हृदय किसी का बुरा नही चाहता, सभी के हित में रत रहता है। आस्तिकवाद की दृष्टि से अनुरागी हृदय में ही भक्ति का वह अनुपम रस उत्पन्न होता है, जिसको पाकर प्राणी कृत–कृत्य हो जाता है। भक्ति के बिना उस अखड और अनन्त रस की उपलब्धि सम्भव नहीं, जो मानव की माँग है।

हृदय अनुराग से भर जाने पर अहम् अभिमान शून्य हो जाता है अभिमान शून्य होते ही परिच्छिन्नता मिट जाती है और परिच्छिन्नता मिटते ही अनन्त नित्य जीवन से अभिन्नता हो जाती है, यही जीवन का चरम लक्ष्य है।

शरीर श्रमी तथा मन सयमी होने पर शक्ति, बुद्धि विवेकवती होने पर मुक्ति, हृदय अनुरागी होने पर भक्ति और अहम अभिमानशून्य होने पर अनन्त एव नित्य जीवन से अभिन्नता स्वतः ही प्राप्त हो जाती है, यही जीवन

की पूर्णता है । अतः अपने को सर्वाङ्ग सुन्दर बनाने के लिये शरीर श्रमी, मन संयमी, बुद्धि विवेकवती, हृदय अनुरागी और अहम अभिमानशून्य होना परम अनिवार्य है ।

दसवाँ नियम

सिक्के से वस्तु, वस्तु से व्यक्ति, व्यक्ति से विवेक तथा विवेक से सत्य को अधिक महत्व देना।

यथेष्ट विचार करने पर यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि सिक्के की जीवन में कोई आवश्कता ही नहीं है। सिक्का केवल आदान-प्रदान करने के लिए एक माध्यम है और कुछ नहीं। सिक्के के महत्व ने मानव को अभिमान, विलासी, आलसी एवं संग्रही बना दिया है। जीवन में आवश्यकता वस्तुओं की है जिनकी उत्पत्ति शारीरिक एवं बौद्धिक श्रम तथा प्राकृतिक वस्तुओं द्वारा होती है। वस्तुओं का उपयोग व्यक्तियों की रक्षा में है, सिक्के के संग्रह में नहीं। पर, जब से वस्तुओं के उत्पादन को सिक्के के बढ़ाने में लगा दिया गया है, तब से मानव समाज में विषमता, दरिद्रता तथा अनेक प्रकार के अभाव उत्पन्न हो गये हैं, जिनके फलस्वरूप समय-समय पर अनेकों विप्लव होते रहते हैं। आज तो सिक्के के बल से बड़े बड़े शिक्षितों एवं वैज्ञानिकों को खरीद कर उनके शिक्षा तथा विज्ञान बल का दुरुपयोग किया जा रहा है। यह प्रमाद सिक्के की महिमा से ही उत्पन्न हुआ है।

पारस्परिक संघर्ष तभी मिट सकते हैं, जब सिक्के का उपयोग एक-मात्र वस्तुओं के उत्पादन में किया जाय और वस्तुओं का उपयोग व्यक्तियों की रक्षा के लिये हो, अर्थात् उत्पादन-कर्ताओं की मनोवृति में यह सदभावना अंकित हो जाय कि हमारा उत्पादन व्यक्तियों की रक्षा के लिये है, सिक्का

संग्रह करने के लिए नहीं और व्यक्तियों के मन में यह भावना जाग्रत हो जाय कि जीवन की सार्थकता विवेक में ही निहित है। विवेक के बिना अपने कर्त्तव्य और दूसरों के अधिकार का बोध ही नहीं होता। प्रत्युत अनेक प्रकार के पारस्परिक संघर्ष और द्वन्द उत्पन्न होते रहते हैं। अधिकार लालसा के प्रलोभन से मोहित होकर ही अनेक दलों का जन्म हुआ है और एक दल ने दूसरे दल के प्रति जो नहीं करना चाहिए वह भी किया है। इतना ही नहीं मानव की आकृति में विवेकहीन प्राणियों ने ऐसी घृणित चेष्टाएं भी की है जैसी पशु पत्ती भी नहीं करते। इन हृदय-विदारक दुःखद घटनाओं पर विचार करने से यह प्रकाश मिलता है कि व्यक्तियों को चाहिये कि वे विवेक को अपनाकर सत्यान्वेषण करते हुए सत्य से अभिन्न हो जाँय। पर यह तभी सम्भव होगा, जब मानव सिक्के से वस्तु को, वस्तु से व्यक्ति को, व्यक्ति से विवेक को और विवेक से सत्य को अधिक महत्व दे, अर्थात वस्तुओं के लिए सिक्के को व्यय किया जाय, व्यक्तियो की रक्षा के लिये वस्तुओ का उपयोग किया जाय और बहु संख्या पर विशेष ध्यान न देकर विवेक युक्त व्यक्तियों का आदर किया जाय; ताकि उनके द्वारा मिले हुए प्रकाश से कर्त्तव्य परायणता प्राप्त हो जाय और अधिकार-लालसा का मोह निवृत्त हो जाय। कर्त्तव्य परायणता ही वास्तविक अधिकार है और कर्त्तव्य परायण प्राणी ही समाज के ऋण से मुक्त होकर सत्य का अनुभव कर कृत कृत्य हो सकता है।

ग्याहरवां नियम

व्यर्थ चिन्तन के त्याग तथा वर्तमान के सदुपयोग द्वारा भविष्य को उज्ज्वल बनाना।

व्यर्थ चिन्तन में आबद्ध प्राणी वर्तमान का सदुपयोग नहीं कर पाता और वर्तमान के सदुपयोग के बिना भविष्य का उज्ज्वल होना सम्भव नहीं है। अतः व्यर्थ चिन्तन का त्याग करना अत्यन्त आवश्यक है। व्यर्थ चिन्तन का अन्त होने पर ही सार्थक चिन्तन का उदय होता है। सार्थक चिन्तन का उदय होते ही जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता है उसकी प्राप्ति और जिससे मानी हुई एकता है उसकी निवृत्ति स्वतः की हो जाती है। फिर सब प्रकार के अभावों का अभाव हो जाता है। इस दृष्टि से सार्थक चिन्तन कितने महत्व की वस्तु है —यह बात स्पष्ट हो जाती है।

व्यर्थ चिन्तन का अन्त करने के लिए उसका स्वरूप जान लेना अनिवार्य है। आगे पीछे का चिन्तन ही व्यर्थ चिन्तन है। जिसकी प्राप्ति कर्म द्वारा होती है, उसका चिन्तन भी व्यर्थ चिन्तन है। जिससे देश काल की दूरी हो, जो उत्पत्ति विनाश युक्त हो और जिसमें जड़ता हो अर्थात जो अपने को अपने आप प्रकाशित न कर सके उसका चिन्तन भी व्यर्थ चिन्तन है।

इस दृष्टि मे यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि किसी भी वस्तु, अवस्था एवं परिस्थिति का चिन्तन नहीं करना चाहिए, क्योंकि सभी-अवस्थाएं किसी न किसी कर्म का परिणाम हैं, चिन्तन का नहीं।

चिन्तन केवल उसी का करना है जो सभी वस्तु अवस्था और परिस्थितियों से अतीत हैं, तथा जिसकी प्राप्ति किसी कर्म से सम्भव नहीं है।

सार्थक चिन्तन और कर्म में एक बडा भेद है। कर्म के लिए किसी न किसी वाह्य संगठन एवम वस्तुओं की अपेक्षा होती है और उसका जन्म भोग-वासना से होता है। किन्तु चिन्तन बिना वाह्य सहायता के स्वाभाविक रूप से होता है और उसका जन्म स्वाभाविक आवश्यकता से होता है -भोग इच्छाओं से नहीं। इसके अतिरिक्त जो निरर्थक चिन्तन है वह विषयासक्ति अर्थात राग से ही होता है। अतः उसका समूल अन्त करना आवश्यक है। निरर्थक चिन्तन काठ के समान और सार्थक चिन्तन अग्नि के तुल्य है। जिस प्रकार काठ शेष न रहने पर अग्नि स्वयं बुझ जाती है, उसी प्रकार साथक चिन्तन निरर्थक चिन्तन को खा कर अचिन्तता में बदल जाता हैं। ज्यों ज्यो अचिन्तता सबल एव स्थाई होती जाती है, त्यों–त्यो राग वैराग्य में और भोग योग में परिणत होता जाता है। इस प्रकार योग-युक्त होने पर जिज्ञासु तत्व ज्ञान से और भक्त भगवान से अभिन्न हो जाता है।

प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय है। उसके सदुपयोग में ही प्राणी का हित निहित है। क्योंकि वर्तमान के सभल जाने से भविष्य स्वतः ही उज्ज्वल बन जाता है। प्राणी प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में सर्वथा स्वतन्त्र

है । परतंत्रता केवल अप्राप्त परिस्थिति की प्राप्ति में ही होती है । इसी कारण उन्नतिशील प्राणी प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करके भविष्य को उज्ज्वल बना लेते हैं । वे किसी अप्राप्त परिस्थिति का आह्वान नहीं करते क्योंकि अप्राप्त परिस्थिति का आह्वान करने में प्राप्त शक्ति का और योग्यता का अपव्यय ही होता है, कुछ प्राप्त नहीं होता ।

प्रत्येक परिस्थिति भौतिकवाद की दृष्टि से कर्मों का परिणाम है । आध्यात्मवाद की दृष्टि से केवल इन्द्रिय जन्य ज्ञान का सद्भाव है तथा प्रतीतिमात्र है । आस्तिक दृष्टि से वही प्रिय का सदेश और आदेश है और कुछ नहीं । अतः आस्तिक को अपने प्रेमास्पद का आदेश और सदेश मान कर उन्ही के नाते भौतिकवादी को सर्व हितकारी कर्मों द्वारा विश्व हित के नाते और आध्यात्मवादी को असंगता-पूर्वक सर्वात्मभाव के नाते प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करके भविष्य को उज्ज्वल बना लेना चाहिये ।

प्रार्थना

मेरे नाथ !
आप अपनी
सुधामयी,
सर्व समर्थ,
पतित पावनी,
अहैतुकी कृपा से,
दुःखी प्राणियों के हृदय में
त्याग का बल,
एवं
सुखी प्राणियों के हृदय में
सेवा का बल,
प्रदान करें;
जिससे वे,
सुख दुःख के बन्धन से
मुक्त हों,
आपके
पवित्र प्रेम का,
आस्वादन कर,
कृत-कृत्य हो जावें ।

प्रार्थना की व्याख्या

प्रार्थना, प्राणी की वास्तविक पुकार है। ज्यों ज्यों अपनी निर्बलताओं से प्राणी परिचित होता है त्यों त्यों स्वभाव से ही प्रार्थना होने लगती है। अपनी निर्बलता का ज्ञान विकास का मूल है क्योंकि वर्तमान की आवश्यकता ही भविष्य की उपलब्धि होती है। आवश्यकता उसी की होती है जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता और 'मानी' हुई भिन्नता हो। मानी हुई भिन्नता प्रमाद को उत्पन्न कर प्राणी को अनेक निर्बलताओं में आबद्ध कर देती है। ज्यों ज्यों निर्बलता जनित वेदना बढ़ती जाती है त्यों त्यो उन निर्बलताओं का अन्त करने के लिए स्वभाव से ही प्रार्थना होने लगती है। प्रार्थना उसी के लिये होती है जिसकी प्राप्ति अनिवार्य है। इस दृष्टि से प्रार्थना सफलता की कुन्जी है। प्रार्थना प्राणी-मात्र को स्वभाव से ही अभीष्ठ है। दार्शनिक तथा मान्यताओं का भेद होने पर भी प्रार्थना सभी की एक है कारण कि स्वाभाविक आवश्यकता सब की एक और अस्वाभाविक इच्छाएं अनेक हैं। प्रार्थना का उद्गम स्थान स्वाभाविक आवश्यकता है जो बीज रूप से प्राणी मात्र में एक ही है। अस्वाभाविक इच्छाओं में भेद होने से मान्यताओं में भले ही भेद हो परन्तु स्वाभाविक आवश्यकता एक होने से मानव मात्र का जीवन एक है। इस दृष्टि से मानव-सेवा-संघ की प्रार्थना मानव मात्र के लिये हितकर है। उस प्रार्थना का प्रथम वाक्यांश है "मेरे नाथ।"

"मेरे" और "नाथ" इन शब्दों से जो ध्वनि निकलती है, वह प्रार्थी

में प्रियता, निर्भयता तथा निश्चिन्तता जाग्रत करती है कारण कि "मेरे" शब्द में आत्मीयता की अभिव्यक्ति है। आत्मीयता प्रियता की जननी है। प्रियता स्वभाव से ही रस रूप है। इस कारण प्रियता नीरसता का अन्त करने में समर्थ है। नीरसता का अन्त होते ही खिन्नता मिट जाती है जिसके मिटते ही क्षोभ तथा क्रोध आदि विकारों का अन्त हो जाता है। क्षोभ का अन्त होने से प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग होने लगता है और क्रोध का अन्त होते ही विस्मृति मिट जाती है अर्थात् कर्तव्यपरायणता स्वतः आजाती है।

"नाथ" उसी को कह सकते हैं जो समर्थ तथा रक्षक है। उसके होते हुए निश्चिन्तता तथा निर्भयता स्वभाव से ही आ जाती। निश्चिन्तता, व्यर्थ चिन्तन तथा निराशा को खा लेती है और निर्भयता, प्राप्त का सदुपयोग कराने मे समर्थ होती है। अतः "मेरे नाथ" वाक्यांश के अर्थ का स्फुरण होते ही निराशा मे आशा, असफलता में सफलता का दर्शन होने लगता है और जीवन एक नवीन उत्साह तथा उत्कंठा से परिपूर्ण हो जाता है।

इस प्रार्थना में प्रार्थी अपनी मूल निर्बलताओं को जान कर प्रार्थ्य की कृपाशक्ति की महिमा पर श्रद्धा करता है। मूल निर्बलताएं मुख्य रूप से तीन प्रकार की हैं :— जीवन की मांग अर्थात मृत्यु का भय प्राणी मात्र में स्वभाव से है। सामर्थ्य की माँग अर्थात अपनी असमर्थता के दोष से भी प्राणी मात्र भली भाँति परिचित है। पवित्रता अर्थात् जो भूल हो चुकी है उससे छुटकारा पाने की रुचि भी प्राणी मात्र मे स्वभाव से है। यह नियम है कि जिससे प्रार्थना की जाती है, उसकी महिमा में श्रद्धा करना अनिवार्य हो

जाता है। निर्बलता के अनुरूप प्रार्थना—और प्रार्थना के अनुसार प्रार्थ्य की स्तुति स्वभाव से ही होने लगती। इस कारण उस प्रार्थना में अपने प्रार्थ्य की कृपा शक्ति की महिमा में चार प्रकार के विशेषण स्वीकार किए हैं। सुधामयी, सर्व समर्थ, पतितपावनी और अहैतुकी।

सुधामयी होने से मृत्यु का भय शेष नहीं रहता और सब समर्थ होने से असमर्थता का दोष मिट जाता है। पतितपावनी होने से पवित्रता आजाती है और अहैतुकी होने के कारण प्राणी मात्र उस कृपा शक्ति का अधिकारी हो जाता है। निर्बलताए तीन प्रकार की हैं और हमारे जो अपने प्रार्थ्य हैं उनकी कृपा मे चार विशेषण हैं। इस दृष्टि से प्रार्थी और प्रार्थ्य के बीच मे निःसकोच सम्बन्ध की स्थापना हो सकतीहै, अर्थात् हम सब प्रार्थी होकर स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्त्ति और अस्वाभाविक इच्छा की निवृत्ति कर सकते हैं। इस दृष्टि से उपरोक्त प्रार्थना मानव मात्र के विकास का अचूक उपाय है।

इस प्रार्थना मे इस बात का विशेष ध्यान रखा गया है कि यह प्रार्थना किसी व्यक्ति, दल, सम्प्रदाय, देश, जाति और वर्ग विशेष आदि के लिए नहीं की गई है अपितु विश्व से एकता स्वीकार कर प्राणी मात्र के हित के लिए की गई है। दूसरी बात यह है कि इस प्रार्थना में जो अपने आप विधान के अनुसार हो रहा है उसका विरोध नहीं किया गया है। अर्थात् प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग की प्रार्थना है किसी अप्राप्त परिस्थित की माग नहीं है। यह सभी को मान्य होगा कि प्रत्येक परिस्थिति सुख तथा दुख से युक्त है। प्रत्येक प्राणी किसी न किसी अ श मे सुखी और किसी न किसी अ श में दुखीहै। अथवा यों कहो कि वर्तमान परिवर्तनशील जीवन सुख तथा दुख से युक्त है। यह सभी को मान्य होगा कि जिसमें सतत् परिवर्तन है उसमें न तो

स्थिति ही सिद्ध हो सकती है और न उसका स्वतंत्र अस्तित्व ही हो सकता है। जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं उसको जीवन स्वीकार करने में निज विवेक का विरोध है। यह अवश्य कह सकते हैं कि प्राप्त परिस्थिति वास्तविक जीवन न होने पर भी वास्तविक जीवन की साधन सामग्री अवश्य है। इस दृष्टि से सुख तथा दुख का सदुपयोग ही मानव मात्र का कर्तव्य है। उसी कर्तव्य-परायणता को अपनाने के लिए इस प्रार्थना में दुखी प्राणियों के हृदय में त्याग का और सुखी प्राणियों के हृदय में सेवा का बल प्रदान करने की उस अपने नाथ से, जिसकी कृपा सुधा मयी, सर्व समर्थ, पतितपावनी एवं अहैतुकी है, प्रार्थना की गई है।

यदि हम गंभीरता पूर्वक विचार करें तो यह स्पष्ट विदित होगा कि कोई भी दुखी दुख के भय से उस समय तक रहित नहीं हो सकता जब तक उसमे त्याग का बल न आ जाय और कोइ भी सुखी उस समय तक सुख भोग की आसक्तियों से मुक्त नहीं हो सकता जब तक उसमें सेवा का बल न आ जाय। यह नियम है कि दुःख के भय और सुख की दासता से रहित हुए बिना परस्पर मे एकता नहीं हो सकती अर्थात् समस्त विश्व एक जीवन है यह अनुभव नहीं हो सकता और इसके हुए बिना संघर्षों का अन्त सम्भव नहीं है अर्थात् शान्ति की स्थापना उस समय तक नहीं हो सकती जब तक सुखियों और दुखियों मे अभिन्नता न हो जाय। अब यदि कोई यह कहे कि भला बेचारा दुखी क्या त्याग करेगा? तो यह कहना होगा कि जिसके अभाव से दुखी दुःख भोग रहा है, यदि उसकी वासना का त्याग करने में समर्थ हो जाय तो भयकंर से भयकंर दुःख अपने आप मिट जाता है। जिसके मिटते ही सुखदुःख से अतीत के जीवन मे प्रवेश हो जाता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार त्याग

से उदारता और उदारता से त्याग की पुष्टि होती है। कोई भी सुखी पर दुख से दुखी हुए बिना करुणित नहीं हो सकता और करुणित हुए बिना सुख भोग की रुचि का नाश नहीं हो सकता क्यों कि करुणा का रस सुख भोग की रुचि से कहीं मधुर और सरस है। सुख भोग की रुचि का अन्त होने पर ही बेचारा सुखी सुख की दासता से मुक्त हो सकता है। इस दृष्टि से यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि दुखी का कर्त्तव्य है त्याग और सुखी का कर्त्तव्य सेवा। सर्वांश में तो कोई व्यक्ति केवल सुखी अथवा केवल दुखी होता नहीं, अतः जिस अंश में प्राणी दुखी हो उस अंश में त्याग और जिस अंश में सुखी हो उस अंश में सेवा को अपनाकर सुख दुःख से अतीत के जीवन का अधिकारी मानव मात्र हो सकता है।

समस्त विश्व एक जीवन है। यही भौतिक दर्शन की पराकाष्ठा है। प्राणी मात्र के वर्तमान जीवन में सुख दुःख है, यह मानव मात्र की अनुभूति है। सुख दुःख के सदुपयोग में ही कर्त्तव्य परायणता की पराकाष्ठा है। इस दृष्टि से प्रार्थना का वह अंश जिसमें प्राणी मात्र में सेवा और त्याग का सामर्थ्य प्रदान करने की बात कही गई है, वह भौतिक विकास की चरम सीमा है और विश्व शान्ति का सुगम उपाय है।

प्रार्थना का वह भाग जिसमें प्राणी मात्र को सुख दुःख के बन्धन से मुक्त होने की बात कही गई है, यह अध्यात्मवाद की परावधि है कारण सुख की दासता तथा दुःख के भय से मुक्त होने पर ही व्यक्ति देहाभिमान से रहित हो सकता है। देहाभिमान का गल जाना ही वास्तव में आध्यात्मवाद है। कारण कि सभी वस्तु, अवस्था परिस्थितियों से अतीत के जीवन में प्रवेश पाना ही अध्यात्मवाद है। देहाभिमान के रहते हुए क्रिया, चिन्तन एवं

स्थिति आदि अवस्थाओं से असंगता सम्भव नहीं है और सुख की दासता तथा दुख का भय रहते हुए देहाभिमान का अन्त नहीं हो सकता। इस दृष्टि से उक्त प्रार्थना में प्राणियों को सुख तथा दुःख के बन्धन से मुक्त होने की प्रार्थना की गई है। यह नियम है कि देहाभिमान गलते ही अपने आप निर्वासना आजाती है। वासनाओं का अन्त होते ही भेद तथा भिन्नता स्वतः गल जाती है जिसके गलते ही पवित्र प्रेम की अभिव्यक्ति अपने आप होती है, जो वास्तव में आस्तिकवाद है अतः प्रार्थना के अन्तिम भाग में पवित्र प्रेम का आस्वादन कर कृतकृत्य होने की प्रार्थना की गई है।

यद्यपि प्रेम पवित्र ही है, परन्तु पवित्र विशेषण केवल इस कारण लगाया गया है कि जिससे प्रेम के उच्चतम स्तर का प्रकाशन हो सके। वास्तव में तो प्रेम क्षति, और पूर्ति से रहित है क्यों कि निवृत्ति कामनाओं की और पूर्ति जिज्ञासा की होती है, प्रेम की तो प्राप्ति ही होती है। प्रेम की प्राप्ति में ही जीवन की पूर्णता है क्योंकि प्रेम स्वभाव से ही सभी को अभीष्ट है। इतना ही नहीं, प्रेम में प्रेम का ही आदान प्रदान है। कारण कि प्रेम के बदले में प्रेम ही हो सकता है कुछ और नहीं। इस दृष्टि से प्रेमी और प्रेमास्पद दोनों ही परस्पर में प्रेमी तथा प्रेमास्पद है। प्रेम स्वभाव से ही दिव्य, चिन्मय तथा रस रूप है। पवित्र प्रेम की अभिव्यक्ति होने पर प्रेमी बे मन का हो जाता है अर्थात् उसके पास अपना मन नहीं रहता। प्रेमास्पद के मन की बात ही उसके अपने मन की बात है। प्रेमास्पद का रस ही उसका अपना रस है। वियोग तथा मिलन दोनों ही दशाओं में प्रेम की उत्तरोत्तर वृद्धि ही होती है, क्षति नहीं। प्रेम दूरी तथा भेद को शेष नहीं रहने देता। इस कारण प्रेम की प्राप्ति में जीवन की पूर्णता निहित है जो आस्तिकवाद की

पराकाष्ठा है।

प्रार्थना के प्रथम अंश में उससे आत्मीयता तथा नित्य सम्बन्ध स्वीकार किया गया है। जिसकी कृपा सुधामयी, सर्व समर्थ, पतितपावनी तथा अहैतुकी है। दूसरे अंश में प्राणी मात्र से एकता स्वीकार कर सुखियो में सेवा और दुखियों मे त्याग के बल की बात कही गई है जो वास्तव में कर्त्तव्य परायणता है। तीसरे अंश में सुख की कामना और दुःख के भय से मुक्त होने की बात कही गई है जो वास्तविक आध्यात्मिकता है। चतुर्थ भाग में प्रार्थ्य के पवित्र प्रेम की याचना कर कृत् कृत्य होने की प्रार्थना की गई है जो आस्तिकवाद की पराकाष्ठा है। इस प्रार्थना मे व्यक्तिगत रूप से अपने लिये कोई माग नहीं की गई अथवा यों कहो कि विश्व जीवन से अलग कोई व्यक्तिगत जीवन नही है अर्थात्, शरीर और विश्व, व्यक्ति और समाज, प्रेमी और प्रेमास्पद में एकता स्वीकार की गई है।

अब यदि कोई कहे कि प्रार्थना करने मात्र से क्या समानता हो सकती है? विकास की दृष्टि से यह नियम हैं कि भावनाओं के अनुरूप ही कर्म और कर्म के अनुसार ही परिस्थिति बनती है। अतः प्रार्थना में की हुई पवित्र भावनाओं से कर्म की शुद्धि और कर्म की शुद्धि से अनुकूल परिस्थिति अवश्य बन सकती है। परन्तु पवित्र भावनाओ में सजीवता तथा दृढ़ता लाने के लिए यथा-शक्ति प्राप्त परिस्थिति के अनुसार कर्त्तव्य पालन करना अनिवार्य है। यह नियम है कि ज्ञान, भाव तथा कर्म की एकता होने पर ज्ञान के अनुरूप जीवन स्वतः हो जाता है। अतः इस प्रार्थना में सभी समस्याओं का हल निहित है। पर यह रहस्य वे ही जान सकते हैं जो विकल्प रहित विश्वास के आधार पर प्रार्थ्य की सत्ता स्वीकार करते हैं और

निज विवेक के प्रकाश में अपनी निर्बलताओं को जानते हैं। अपनी निर्बलताओं के ज्ञान में और अनन्त की महिमा की श्रद्धा में प्रार्थना स्वतः सिद्ध है।

अब यदि कोई यह कहे कि जिसे अनन्त की महिमा में स्वभाव से श्रद्धा न हो तो वह प्रार्थना कैसे कर सकता है? कहना होगा कि अपनी निर्बलता के ज्ञान में ही किसी महानता की स्वीकृति स्वतः सिद्ध है। क्यों कि किसी की आवश्यकता का अनुभव होना ही उसके होने में हेतु हो जाता है जिसकी वह आवश्यकता है। अतः किसी आवश्यकता का होना ही अनन्त की सत्ता स्वीकार करने में स्वतः सिद्ध है। प्रार्थना वही नहीं कर सकता जिसे अपनी आवश्यकता का ज्ञान न हो। भला क्या कोई ऐसा व्यक्ति है जिसकी कोई आवश्यकता न हो? यदि नहीं है तो प्रार्थना करना सभी के लिए स्वाभाविक हो जाता है। अन्तर केवल इतना है कि उपरोक्त प्रार्थना में जीवन की सभी समस्याओं का हल है और उसमें किसी सम्प्रदाय विशेष का समर्थन तथा विरोध नहीं है अपितु सभी समस्याओं को हल करने की माग है। इस दृष्टि से उक्त प्रार्थना मानव मात्र को अवश्य करना चाहिए।

मानव सेवा संघ

सोसाइटीज़ रजिस्ट्रेशन ऐक्ट २१ आफ १८६० के अन्तर्गत पंजीकृत (१८ नवम्बर १९५३ ई०) रजिस्टर्ड कार्यालय मानव सेवा संघ, वृन्दावन, उत्तर प्रदेश

स्मृति-पत्र

(MEMORANDUM OF ASSOCIATION)

प्राकृतिक नियमानुसार मानव समाज को सदैव सत्पुरुषों द्वारा प्रकाश मिलता रहा है, यह निर्विवाद सिद्ध है। आज मानव समाज में दो विभिन्न विचारधाराओं का संघर्ष है। यद्यपि दोनों का वास्तविक लक्ष्य एक ही है, तथापि उनमें प्रमादवश परस्पर स्नेह की एकता का अभाव होता जा रहा है, जिसका परिणाम बड़ा ही भयंकर और दुःखद सिद्ध हुआ है। एक विचारधारा तो यह है कि हम समाज से विमुख होकर एकान्तिक जीवन द्वारा अपना कल्याण करें और दूसरी यह है कि हम भले ही चाहे जैसे रहें पर समाज को सुन्दर बना कर अपने को सुखी बनायें। किन्तु इन दोनों में स्नेह की एकता का संचार करना ही वास्तविक उपयोगी विचारधारा है। यह तभी सम्भव है, जब प्राणी सत्पुरुषों से प्राप्त प्रकाश द्वारा अपने को निर्दोष बनाकर अपने कर्तव्य से दूसरों के अधिकारों की रक्षा करता हुआ स्नेह की एकता स्थापित करके, सेवा द्वारा समाज को सुन्दर बनाने के लिये प्रयत्नशील बना रहे। अतः एक संत की प्रेरणा से इस संस्था की स्थापना की जा रही है।

(१) संस्था का नामः इस संस्था का नाम 'मानव सेवा संघ' होगा।

(२) रजिस्टर्ड कार्यालय : संघ का रजिस्टर्ड कार्यालय, जिसे प्रधान कार्यालय कहा जायगा, वृन्दावन उत्तर प्रदेश में स्थित होगा।

(३) उद्देश्यः इस संघ का उद्देश्य निम्नलिखित नीति तथा कार्यों में से एक या अधिक या सभी को कार्यान्वित करना होगा।

(क) राष्ट्र, जाति तथा सम्प्रदाय का भेद न रखते हुए भिन्न-भिन्न उपयुक्त प्रयोगों द्वारा मानव समाज के निम्नलिखित वर्गों की यथाशक्ति सेवा करना:—

(१) बालक

(२) महिला

(३) रोगी

(४) विरक्त

(५) समाज सेवक

(ख) मानव हितकारी पशुओं तथा वृक्षों का संरक्षण और संवर्धन।

(ग) सत्संग की योजना, विचार विनिमय तथा सद्ग्रंथों एवं आध्यात्मिक साहित्य के प्रकाशन द्वारा सत्य का अन्वेषण करना।

(घ) जितेन्द्रियता, सेवा, भगवत्चिन्तन तथा सत्यान्वेषण द्वारा व्यक्ति का आध्यात्मिक उत्थान करना।

उपर्युक्त उद्देशों की पूर्ति के लिए सभी आवश्यक साधन प्रस्तुत करना तथा उनके लिए नियम बनाना।

[किन्तु स्मरण रहे कि ये सब कार्य सोसाइटीज रजिस्ट्रेशन ऐक्ट के धारा २० के अन्तर्गत होंगे]

(छ) उन संस्थाओं को जो मानव सेवा संघ के उद्देशों को स्वीकार करते हुए संघ में सम्मलित होना चाहे उन्हें सम्मिलित करना तथा उनका प्रबन्ध करना। सम्मिलित संस्थाओं के इच्छानुसार उनके स्मारक चिन्ह तथा नाम आदि की रक्षा करना।

(ज) चल एवं अचल सम्पत्ति का अर्जन और संग्रह एव सघ के आवश्यकताअनुसार उसे हस्तान्तरित करना, व्यय करना, ऋण लेना, भवन, कूप आदि का निर्माण करना अथवा प्रतिभूति (सिक्योरिटी) में लगाना।

(झ) उन सभी कार्यों को करना जिन्हें केन्द्रीय कार्यकारिणी समिति संघ के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए आवश्यक समझें (किन्तु स्मरण रहे कि ये सब कार्य सोसाइटीज रजिस्ट्रेशन ऐक्ट की धारा २० के अन्तर्गत होंगे)।

संघ की सदस्यता

इस संघ का सदस्य वह होगा जो इसके उद्देश्यों और नियमों को स्वीकार कर उनके अनुसार सदस्यता प्राप्त करेगा।

सदस्य पाच प्रकार के होंगे :—

(१) साधारण सदस्य (Ordinary member) : जो १।) सवा रुपया प्रति वर्ष अग्रिम सदस्यता-शुल्क देगा।

(२) आजीवन सदस्य (Life member) : जो १०१) रु० सदस्यता शुल्क देगा।

(३) दानी सदस्य (Patron member) : जो एक बार कम से कम ११११) एक हजार एक सौ ग्यारह रु० सदस्यता शुल्क देगा।

(४) माननीय सदस्य (Honouary) : वे होंगे जिनको केन्द्रीय कार्य-कारिणी समिति के परामर्श से संघ के प्रधान उनके सम्मानार्थ मनोनीत करें।

(५) सहयोगी सदस्य (Helpers) : जो शारीरिक अथवा बौद्धिक श्रम द्वारा संघ की सहायता करे और जिसकी सदस्यता केन्द्रीय कार्य-कारिणी स्वीकार करे।

राग-द्वेष का नाश हो

त्याग-प्रेम की जय हो

मानव-सेवा-संघ के महत्वपूर्ण प्रकाशन

१-सन्त-समागम (भाग १-चतुर्थ संस्करण) पृष्ठ २६१, मूल्य १॥)

२-सन्त-समागम (भाग २-द्वितीय सस्करण) पृष्ठ ३६१, मूल्य २)
दोनों भाग एक साथ खरीदने पर मूल्य ३)
इन दोनों पुस्तकों में पूज्य स्वामी जी द्वारा दिये हुये प्रश्नों के उत्तर, लिखाये हुये पत्र, तथा अनेक विषयों पर उनकी सन्त वाणियाँ सकलित हे, जिससे साधक को अनेक आध्यात्मिक समस्याओं पर प्रकाश प्राप्त होता है।

३-मानव की माँग- मानव के लक्ष्य एवं उसकी प्राप्ति के साधनों पर पूज्य स्वामी जी के २७ प्रवचनों का संग्रह पृष्ठ-सख्या २७५, मूल्य २)

४-जीवन-दर्शन-मानव जीवन की समस्याओं पर, पूज्य स्वामी जी के मौलिक, सूक्ष्म एव अनुभव सिद्ध विचार। पृष्ठ-सख्या ३२५, मूल्य २)

५-पारसमणि ('पारसभाग' का सशोधित सस्करण) लेखक पूज्य स्वामी सनातन देव जी। पृष्ठ-संख्या ९१४, एक प्रति का

मूल्य कमीशन काटकर ६) चार प्रतियां एक साथ खरीदने पर मूल्य प्रति पुस्तक ५।) । मियाँ मुहम्मद गज्ज़ाली साहब ने फारसी में 'कीमिया-ए-सआदत' नामक ग्रन्थ रत्न की रचना की थी । उसी अमूल्य ग्रन्थ का यह संशोधित हिन्दी संस्करण है । यह ग्रन्थ धर्म मय जीवन की प्राप्ति के लिये सचमुच एक दुर्लभ कीमिया (रसायन) ही है ।

मिलने का पता:—

(१) मानव-सेवा-संघ-आश्रम
पोस्ट-वृन्दावन
मथुरा (उ० प्र०)

(२) निर्माण-निकेतन
ग्राम-अरसन्डे,
पोस्ट-बोरया,
राँची (विहार)